आद्य-निवेदन

न्यायविषय मे आचार्यों ने तत्त्वपरीक्षा के लिये प्रमाण रूपी कसौटी तैयार की है। यदि उस प्रमाण से जांचकर पदार्थ का निर्णय किया जाय तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति मतमतान्तरो की चकाचौंध मे भ्रान्त नहीं हो सकता। जैसे तराजूमे तुले पदार्थ में या कसौटी पर घिसकर जांचे हुये सुवर्ण में कोई सन्देह नहीं रहता वैसे ही प्रमाण द्वारा निर्णीत पदार्थ में भी सदेह नहीं रहता।

मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये जीवादिक तत्त्वों का निर्णय होना आवश्यक है और वह प्रमाण के विना हो नहीं सकता। इसलिये प्रमाण का स्वरूपादि जानना प्रत्येक आत्महितैषी के लिये आवश्यक है।

जैन सिद्धांत मे प्रमाण के स्वरूप के निरूपक अनेक ग्रन्थ हैं परन्तु वे सस्कृत या प्राकृत में हैं। उनसे सर्वसाधारण को प्रमाण का बोध होना दुःसाध्य अनुभव कर भाषा के जानकार भी प्रमाण के स्वरूपादि का बोध कर सकें इस हेतु इस ग्रथ की यह भाषा टीका बनाई गई है। गवर्नमेंट सस्कृत कालेज कलकत्ता कि प्रथमपरीक्षा और सस्कृत विशारद प्रथमखण्डके छात्रो को विशेष लाभ हो एतदर्थ संस्कृत की सुबोध टीका भी दे दी गई है। विशेषार्थ, टिप्पणी, लेखमाला, ग्रथकार की जीवनी, सूत्रसूची और परीक्षाओ के प्रश्नपत्र भी सम्बद्ध कर इस ग्रथ को सर्वाङ्ग सुंदर और सर्वोपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। इसमे मुझे कहां तक सफलता मिली है इसका निर्णय पाठकों के हाथ है।

सस्कृत टीका में यत्रतत्र असन्धिप्रयोग सरलता के हेतु ज्ञात रहते हुये भी किया गया है। फिर भी न्याय का विषय विशेष गहन है। उसमें हमारा स्खलित हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु पाठकों से विनय है कि इसकी सूचना हमें देने की कृपा अवश्य करें, जिससे द्वितीयावृत्ति मे सुधार हो सके।

आचार्य माणिक्यनन्दी और उनका समय

आचार्य माणिक्यनन्दी नन्दिसङ्घ के प्रमुख आचार्यों में हैं। विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेखों में से सिद्धरबस्ती में उत्तर की ओर एक स्तम्भ पर जो विस्तृत अभिलेख × उत्कीर्ण है और जो शक सं० १३२० (ई० सन् १३९८) का खुदा हुआ है उसमें नन्दि-सङ्घ के जिन प्रमुख आठ आचार्यों का उल्लेख है उनमें आचार्य माणिक्यनन्दी का भी नाम है*। ये अकलङ्कदेव की कृतियों के मर्मस्पृष्टा और अध्येता थे। इनकी उपलब्ध कृति एकमात्र 'परी-क्षामुखसूत्र' है।

परीक्षामुखसूत्र—

यह 'परीक्षामुख' अकलङ्कदेवके न्यायग्रन्थोंका दोहन है और जैनन्यायका अपूर्व तथा प्रथम गद्यसूत्र ग्रन्थ है। यद्यपि अकलङ्क-देव जैनन्याय की प्रस्थापना कर चुके थे और अनेक महत्त्वपूर्ण न्याय-विषयिक कारिकात्मक ग्रन्थ भी लिख चुके थे। परन्तु गौतम के न्यायसूत्र, दिग्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि की तरह जैनन्याय को गद्यसूत्रबद्ध करने वाला 'जैनन्यायसूत्र' ग्रन्थ जैनपरम्परा में अब तक नहीं बन पाया था। इस कमी की पूर्ति सर्वप्रथम आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपना प्रस्तुत 'परीक्षा-मुखसूत्र' लिख कर की जान पड़ती है। उनकी यह अमर रचना भारतीय न्यायसूत्रग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह संस्कृत भाषा में निबद्ध और छह परिच्छेदों में विभक्त है। आदि और अन्त में एक एक पद्य है, शेष समस्त ग्रन्थ गद्यसूत्रों में है। सूत्र बड़े ही सुन्दर, विशद और अर्थ-पूर्ण हैं। प्रमेयरत्न-मालाकार लघु अनन्तवीर्य (वि० सं० ११ वीं १२ वीं शती) ने

× शिलालेख नं० १०५ (२५४), शिलालेख संग्रह पृष्ठ २००।

* 'विद्या-[illegible]-गुरु-माणिक्यनन्दि-[illegible]।'

इसे अकलङ्कदेव के वचनरूप समुद्र को मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत' न्यायविद्यारूप अमृत बतलाया है×। वास्तव में इसमें अकलङ्कदेव के द्वारा प्रस्थापित जैनन्याय को, जो उनके विभिन्न न्यायग्रंथों में निबद्ध था, बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से ग्रथित किया गया है।

उत्तरवर्ती आचार्य वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा पर इसका पूरा प्रभाव है*। वादिदेवसूरि ने तो इसका शब्दशः और अर्थशः बहुत अनुसरण किया है

इस परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्रने बारह हजार श्लोक प्रमाण 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' नामकी बडी भारी टीका लिखी है। इनके कुछ ही बाद लघु अनन्तवीर्य ने प्रसन्नरचना-शैली वाली 'प्रमेयरत्नमाला' टीका लिखी है। इस प्रमेयरत्नमाला पर भी अजितसेनाचार्यकी 'न्यायमणिदीपिका'(३)तथा पंडिताचार्य चारुकीर्त्ति नाम के एक अथवा दो विद्वानो की 'अर्थप्रकाशिका'(४) और प्रमेयरत्नमालालङ्कार (५) नाम की ये तीन टीकायें उपलब्ध होती हैं और जो अभी अमुद्रित हैं। परीक्षामुख सूत्रके प्रथम सूत्र पर शान्तिवर्णी की एक 'प्रमेय कण्ठिका' (६) नामक अतिलघु टीका पाई जाती है। यह भी अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

× "अकलङ्कवचोम्भोधे रुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै, नमो माणिक्यनन्दिने ॥"–प्र० र० पृ० २।

अकलङ्कदेव के वचनों से 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ, इसके लिये देखें, 'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक मेरा लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ३-४ पृ. ११६ से १२८।

* इन ग्रन्थों की तुलना करें।

३, ४, ५, ६ प्रशस्तिसंग्रह पृ० १, ६६, ६८, ७२।

आचार्य माणिक्यनन्दी का समय—

मुझे यहाँ आचार्य माणिक्यनन्दी के समय के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करना इष्ट है। आचार्य माणिक्यनन्दी लघु अनन्तवीर्य के उल्लेखानुसार अकलङ्कदेव (८ वीं शती) के वाङ्मय के मन्थनकर्त्ता हैं। अतः वे उनके उत्तरवर्ती और परीक्षामुख टीका (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड) कार आचार्य प्रभाचन्द्र (११ वीं शती) के पूर्ववर्ती विद्वान सुनिश्चित हैं। अब प्रश्न यह है कि इस तीन सौ वर्ष की लम्बी अवधि का क्या कुछ संकोच हो सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए माननीय पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने लिखा है कि "इस लम्बी अवधि को संकुचित करने का कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टि में नहीं आया। अधिक सम्भव यही है कि वे विद्यानन्द के समकालीन हों, और इसलिये इनका समय ई० ९ वीं शताब्दी होना चाहिये।"* लगभग यही विचार अन्य विद्वानों× का भी है।

मेरी विचारणा—

१—अकलङ्क, विद्यानन्द और माणिक्यनन्दी के ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दी ने केवल अकलङ्कदेव के न्यायग्रन्थों का ही दोहन कर अपना परीक्षामुख नहीं बनाया, किन्तु विद्यानन्द के प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि तर्क ग्रन्थों का भी दोहन करके उसकी रचना की है। नीचे मैं दोनों आचार्यों के ग्रन्थों के कुछ तुलनात्मक वाक्य उपस्थित करता हूँ—

(क) आचार्य विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षा में प्रमाण के इष्ट-

* देखो, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (द्वितीय संस्करण) की प्रस्तावना पृष्ठ ५।

× न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना पृ० ३० (३३) आदि।

संसिद्धि और प्रमाणाभास से इष्टससिद्धि का अभाव बतलाते लिखते हैं —

'प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथाऽतिप्रसङ्गतः ।'–पृष्ट ६३ ।

आ० माणिक्यनन्दी भी अपने परीक्षामुखमें यही कहते

'प्रमाणादर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।' पृष्ट १ ।

(ख) विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षा में ही प्रामाण्य की ज्ञ को लेकर निम्न प्रतिपादन करते हैं :—

'प्रामाण्यं तु स्वत सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा ।' पृष्ट ६३ ।

माणिक्यनन्दी भी परीक्षामुख में यही कथन करते हैं·–
'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।' परिच्छेद १ सूत्र १३

(ग) विद्यानन्द 'योग्यता' की परिभाषा निम्न प्रका करते हैं :—

'योग्यताविशेष पुन· प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरणवीर्या न्तरायक्षयोपशमविशेष एव ।' 'प्रमाणपरीक्षा' पृष्ट ६७ ।

'स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम भेद स्वार्थप्रमितौ शक्ति र्योग्यतेति च स्याद्वादिभिरभिधीयते प्रमाणपरीक्षा पृष्ट ५२ ।

'योग्यता पुन र्वेदनस्य स्वावरणविच्छेदविशेष एव ।'
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ट २४६

माणिक्यनन्दी भी योग्यता की उक्त परिभाषा को अप नाते हुये लिखते हैं :—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।' परीक्षामुख परिच्छेद २ सूत्र ३ ।

(घ) ऊहाज्ञान के सम्बन्ध में विद्यानन्द कहते हैं :—
'तथोहस्यापि समुद्भूतौ भूयः प्रत्यक्षानुपलम्भसामग्री—

परिच्छित्तिनिमित्तभूताऽनुमन्यते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाद्-दृश्य ।'
प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ ६७ ।

माणिक्यनन्दी भी यही कथन करते हैं :—

'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।
इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येवेति च ।
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।'
परीक्षामुख अ० ३-११, १२, १३ ।

(ग) विद्यानन्द ने अकलङ्क आदि के द्वारा प्रमाणसंग्रहादि में प्रतिपादित हेतुभेदों के संक्षिप्त और गम्भीर कथन का प्रमाण-परीक्षा में जो विशद भाष्य किया है उसका परीक्षामुख में प्रायः अधिकांश शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है ।

इससे यह स्पष्ट है कि माणिक्यनन्दी विद्यानन्द के उत्तरकालीन हैं, उन्होंने विद्यानन्द के ग्रन्थों का खूब उपयोग किया है ।

२—आचार्य वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय ये दो ग्रन्थ बनाये हैं और यह भी सुनिश्चित है कि न्यायविनिश्चयविवरण के समाप्त होने के तुरन्त बाद ही उन्होंने प्रमाणनिर्णय बनाया है ।+ परन्तु यहाँ आचार्य विद्यानन्द के ग्रंथवाक्यों के उद्धरण इनमें, पाये हैं×

+'अनिर्णीतार्थानुपयोगिनः स्वरूपादेः पश्चादपि विचार्य निरूपणमिति चेदनुमानमेवेति ह.म. । —निवेदयिष्यते चैतत् पश्चादेव शास्त्रान्तरे (प्रमाणनिर्णये) ।' — न्यायवि० वि० लि० प० ३०६ । इस उल्लेख से यह विदित है कि न्यायविनिश्चयविवरण के बाद प्रमाणनिर्णय बनाया है, क्योंकि वहां स्मरणादि को अनुमानरूपता सिद्ध किया गया है । देखो प्रमाणनिर्णय पृष्ठ ३३ ।

२ × प्रमाणादिव्यवस्थितिविद्यानन्दः इति वचनात् ।'
न्या० वि० वि० पत्र २१ ।

वहां माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख के किसी भी सूत्र का उद्ध
नहीं है। इससे यह कहा जा सकता है कि माणिक्यनन्दी
आचार्य वादिराजके कम से कम बहुत पूर्ववर्ती नहीं हैं सम्भवतः
वे उनके आसपास समसमयवर्ती ही हैं और इसलिये उनके ग्रंथों
में परीक्षामुख का कोई प्रभाव नहीं है।

३-मुनि नयनन्दी ने अपभ्रंश भाषामें एक 'सुदंसणचरिउ' लिखा है, जिसे उन्होंने धारा मे रहते हुये भोजदेव के राज्य में वि० सं० ११००, ई० सन् १०४३ मे बनाकर समाप्त किया है। इसकी प्रशस्ति मे * उन्होंने अपनी गुर्वावली भी दी है और उस में अपना विद्यागुरु माणिक्यनन्दी को बतलाया है तथा उन्हें

---

* इस प्रशस्ति की ओर मेरा ध्यान मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्री ने दिलाया है और वह मुझे अपने पास से दी है। मैं उसे साभार दे रहा हूँ —

प्रशस्ति :—

"जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे महंते, महाकुंदकुंदंनए एत संते।
सुणरकाहिहाणो तहा पोमणंदी, खमाजुत्त सिद्धंतउ विसहणंदी।
जिणिंदागमाहासणो एयचित्तो, तवायरणट्ठीए लद्धीयजुत्तो।
णरिंदामरिंदेहि सोणदवंती, हुऊ तस्स सीसो गणी रामणंदी।
महापंडऊ तस्स माणिक्कणंदी, भुजंगप्पहाऊ इमो णाम छंदी

घत्ता—

पढमसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणिणयणंदि अणिंदउ
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अबाहहो विरइउ बुहअहिणंदउ।
आरामगामपुरवरणिवेसे, सुपसिद्ध अवंतीणामदेसे।
सुरवइपुरि व्व विबुहयणइट्ठु, तहिं अत्थि धारणयरी गरिट्ठ।
रणउद्धर अरिवरसेलवज्ज, रिद्धि देवासुर जणि चोज्ज (ज्ज)।
तिहुवणणारायणसिरिणिकेउ, तहिं णरवइ पुंगमु भोयदेउ।

प्रशस्तियों में पद्मनन्दी सैद्धान्त का ही गुरुरूप से उल्लेख है। हाँ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की प्रशस्ति में परीक्षामुखसूत्रकार माणिक्यनन्दी का भी इन्होंने गुरुरूप से उल्लेख किया है ✠। कोई आश्चर्य नहीं, नयनन्दी के द्वारा उल्लिखित और सकल विद्यागुणरत्न से पूर्ण माणिक्यनन्दी ही परीक्षामुख के कर्त्ता और प्रभाचन्द्र के न्यायविद्यागुरु हों। नयनन्दी ने अपने को उनका प्रथम विद्याशिष्य और उन्हें महापण्डित घोषित किया है जिससे प्रतीत होता है कि वे न्यायशास्त्र आदि के महाविद्वान होंगे और उनके बहुत शिष्य रहे होंगे। अतः सम्भव है कि प्रभाचन्द्र महाविद्वान् माणिक्यनन्दी की ख्याति सुनकर दक्षिण से धारानगरी में, जो उस समय आज की काशी की तरह समस्त विद्याओं और विविध शास्त्र विद्वानों की केन्द्र बनी हुई थी और राजा भोजदेव का विशेष संरक्षण प्राप्त हो रहा था, उनसे न्यायशास्त्र पढ़ने के लिये आये हों और पीछे वहाँ के विद्याव्यासङ्गमय वातावरण से प्रभावित होकर वहीं रहने लगे हों अथवा वहीं के वासी हो तथा बाद में गुरु माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख की टीका लिखने के लिये प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त हुए हों। जब हम अपनी इस सम्भावना को लेकर आगे बढ़ते हैं तो उसके कुछ आधार भी मिल जाते हैं। सबसे पहला आधार यह है कि प्रभाचन्द्र ने टीका (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड) को आरम्भ करते हुए लिखा है ×

सिद्धान्त[illegible] श्रीपद्मनन्दिप्रभुम् ।
[illegible]
[illegible] प्रभाचन्द्र ॥ ४ ॥

✠ गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो, नन्दिताशेषसज्जनः ।
नन्दताद्दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥ ३ ॥ पृ० ६८४

× शास्त्रं करोमि वरमल्पतरावबोधो,
माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात् ।

चौथा आधार यह है कि नयनन्दी, उनके गुरु महापंडित माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र इन तीनों विद्वानों का एक काल और एक स्थान है।

पाँचवाँ आधार यह है कि प्रभाचन्द्र के पद्मनन्दी सैद्धान्त और चतुर्मुखदेव (वृषभनन्दी) ये दो गुरु बतलाये जाते हैं और ये दोनों ही नयनन्दी (ई० १०४३) के सुदर्शनचरित में माणिक्यनन्दी के पूर्व उल्लिखित हैं। अतः नयनन्दी के विद्यागुरु माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र के भी न्यायविद्यागुरु रहे हों और वे ही परीक्षामुख के कर्ता हों तो कोई असम्भव नहीं है। एक व्यक्ति के अनेक गुरु होना कोई असङ्गत नहीं है। आचार्य वादिराज के भी मतिसागर, हेमसेन और दयापाल ये तीन गुरु थे ×।'

छठवां आधार यह है कि परीक्षामुखकार माणिक्यनन्दी वादिराजसूरि (ई० १०२५) से पूर्ववर्ती प्रतीत नहीं होते, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है।

× 'ते श्रीमन्मतिसागरो मुनिपतिः श्रीहेमसेनो दया-
पालश्चेति त्रिविधरूपोऽपि गुरवः, कुन्दार्चितांघ्रि मम ॥ २ ॥'
न्याय वि० वि० प्र० प्रि० प्र०।

परीक्षामुख नाम पड़ने का कारण—

मुख शब्द का अर्थ द्वार है। जैसे बिना द्वार के महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसलिये महल में प्रवेश के लिये द्वार जरूरी है उसी प्रकार प्रमाण या न्यायशास्त्र की परीक्षा (विवेचन) रूप न्यायविद्या में प्रवेश करने के लिये यह ग्रंथ द्वार के समान उपयोगी है। इस ग्रंथ के बोध बिना न्याय जैसे गंभीर विषय में प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिये इसका यह 'परीक्षामुख' नाम सार्थक है।

"प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्" "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" भेदे त्वा-त्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः." "विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये" इन सूत्रों का व्याख्यान करो।

७-पूर्वचरहेतु, ऊर्ध्वतासामान्य, पर्यायविशेष तथा प्रमाणाभास से क्या समझते हो?

BENGAL SANSKRIT ASSOCIATIOI

First Examination, 1949

Jain (Digamberiya) Nyay.

(न्यायदीपिका वा परीक्षामुख) प्रथमपत्रम्—

[सर्वे प्रश्नाः समानाङ्कभाज । पञ्च एव प्रश्नाः समाधातव्या.]

१-परीक्षा-संशयावग्रह व्याप्ति-पर्यायाकिञ्चित्कर-धारावाहिकज्ञानाना लक्षणानि लिखत।

२-प्रभाकर-बौद्ध-नैयायिकोक्तप्रमाणलक्षणानि निराकृत स्वसिद्धान्तसमस्त प्रमाणलक्षणं ब्रूत।

३-निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षतां प्रतिविधाय सन्निकर्षलक्ष० लेखनीयम्।

४-तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्, अन्यथा तदघटनात्, अनयो सूत्रयो र्व्याख्यां विधाय विषयाभासो विवेचनीयः।

५-प्रमाणाभासानुदाहृत्य पञ्चावयवस्य स्वरूप लिखत

६-प्रमाण तर्क-प्रत्यभिज्ञानागम-तिर्यग् व्यतिरेकस्मरणान लक्षणानि लिख्यन्ताम्।

७-सर्वज्ञसिद्धि विधेया।

८-हेतुभेदा उदाहरणीयाः।

प्रा० माणिकचंद्र दि० जैन परीक्षालय बम्बई सन १६४१

१—प्रमाण, अनुमान, आगम, प्रत्यभिज्ञान, ऊर्ध्वता-सामान्य साध्याविरुद्धव्यापकानुपलब्धि, उपनय, विषयाभास, अकिञ्चित्करहेत्वाभास और पक्षाभास का लक्षण भावसहित सूत्र लिखो। ३०

२—विशेष, हेत्वाभास, परोक्षप्रमाण, विधिसाधकसाध्या-विरुद्धानुपलब्धिहेतु तथा अनुमान के दोनों विवक्षा में अवयव उनके भेद नामनिर्देशपूर्वक लिखो। १५

३—निम्नलिखित सूत्रों का अर्थ पूर्वापरसम्बन्धपूर्वक स्पष्ट करो—रसादेकसामग्र्यनुमानेनेत्यादि, प्रमाणतदाभासौ दुष्टत-योद्भासितौ इत्यादि, व्यावृत्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसंगात्, सम्भवदन्यद्विचारणीयम्, शब्दो-च्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्, अतज्जन्यमपि तत् प्रकाशकं प्रदीपवत् और अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम्। ३०

४—तर्कप्रमाण के प्रयोजन लिखकर प्रमाण के विषय तथा फल में भिन्न २ वादियों का मतान्तर लिख कर स्याद्वा-दियों के क्या सिद्धान्त हैं सो समर्थन पूर्वक भाव स्पष्ट करो। इस परीक्षामुख ग्रन्थके निर्माण के कारण तथा ग्रन्थकर्ता का परिचय लिखो। २५

सन १६४६

१—प्रमाणादर्थसंसिद्धिः, इत्यादि श्लोक का अर्थ कर प्रमाण का लक्षण प्रत्येक पद की सार्थकता सहित लिखो। १५

२—तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च, कर्मवत्कर्तृकरणक्रिया प्रतीतेः, आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः, कुतोऽन्यथोप-नयनिगमने इन सूत्रों की स्पष्ट व्याख्या करो। २०

३—अनुमान व उसके अङ्गों के लक्षण लिख कर बताओ कि वाद के समय कितने अङ्ग आवश्यक होते हैं। १५

४—हेतु और हेत्वाभास का स्वरूप लिखकर व्यापकानुलब्धि तथा कारणरूपहेतु का अनुमानप्रयोग कर समझाओ। १५

अर्थ—यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि अग्नि के सद्भाव में ही यह धूम वाला हो सकता है अथवा अग्नि के अभाव में यह धूम वाला हो ही नहीं सकता, इसलिये इसमें अवश्य अग्नि है, इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये। इस दृष्टान्त से यह दृढ किया गया कि विद्वानों के लिये उदाहरण वगैरह के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

संस्कृतार्थ—अग्निमानयं देशः, अग्निमत्त्वे सत्येव धूमवत्त्वोपपत्तेः, अग्निमत्त्वाभावे धूमवत्त्वानुपपत्तेश्च। व्युत्पन्नायैवमेव प्रयोगो विधेयः। दृष्टान्तेनानेन दृढीकृतं यद्व्युत्पन्नायोदाहरणादीनां प्रयोगस्यावश्यकता नास्ति ॥ ९१ ॥

उदाहरण बिना व्याप्ति के निश्चयाभाव की आशंका का निराकरण

हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ॥ ९२ ॥

अर्थ—जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित है, ऐसे हेतु के प्रयोग से उदाहरणादिक के बिना ही बुद्धिमान लोग व्याप्ति का निश्चय कर लेते हैं, इसलिये विद्वानों की अपेक्षा उदाहरणादिक के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

संस्कृतार्थ—उदाहरणादिकं विनैव तथोपपत्तिमतोऽन्यथानुपपत्तिमतो वा हेतोः प्रयोगेणैव व्युत्पन्ना व्याप्तिं गृह्णन्ति, अतस्तदपेक्षयोदाहरणादिप्रयोगावश्यकता नास्ति ॥ ९२ ॥

दृष्टान्तादिक के प्रयोग की साध्य की सिद्धि के प्रति विफलता—

तावता च साध्यसिद्धिः ॥ ९३ ॥

अर्थ—उस साध्याविनाभावी हेतु के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, इसलिये साध्य की सिद्धि में उदाहरणादिक की कोई जरूरत नहीं होती।

संस्कृतार्थः—तस्य साध्याविनाभाविनो हेतोः प्रयोगादेव साध्यसिद्धिः जायते। अतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तादयो नोपयुक्ताः।

पक्षप्रयोगसाफल्यम्, पक्ष के प्रयोग की सफलता—

तेन पक्षस्तदाधारसूचनायोक्तः ॥ ९४ ॥

अर्थः—जब साध्य के बिना नहीं होने वाले हेतु के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, तब उस हेतु (साधन) का स्थान दिखाने के लिये पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक है।

संस्कृतार्थः—साध्याविनाभाविनो हेतोः प्रयोगादेव साध्यसिद्धिः जायते ऽतस्तस्य हेतोः आधार (स्थान) दर्शनार्थमेव पक्षप्रयोगः आवश्यकः ॥ ९४ ॥

आगम का स्वरूप और कारण—

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥ ९५ ॥

अर्थः—आप्त के वचन तथा अंगुलिसंज्ञा आदि से होने वाले अर्थ (तात्पर्य) ज्ञान को आगम (आगमप्रमाण) कहते हैं।

संस्कृतार्थः—यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः। आप्तस्य वचनम् आप्तवचनम्। आदिशब्देनाङ्गुल्यादिसंज्ञापरिग्रहः। आप्तवचनादि हेतुः यस्य तत् तथोक्तम्। आप्तवचनादि निबन्धनं कारणं यस्य तत् तथोक्तम्। तथा आप्तवचनादिकारणकं यत् अर्थज्ञानं तत् आगम इति।

अर्थज्ञानमित्य[illegible] ॥ ९५ ॥

वचन या शब्द मे वास्तविक अर्थबोध होने का कारण—

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥ ९६ ॥

अर्थ —अर्थों मे वाच्यरूप तथा शब्दों में वाचकरूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमे संकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान मे हेतु हो जाते हैं।

संस्कृतार्थ.—सहजा-स्वभावसम्भूता, योग्यता-शब्दार्थयो र्वाच्यवाचकशक्तिः, तस्यां सङ्केतस्तस्य वशास्तस्मात्। तथा च शब्दार्थनिष्ठवाच्यवाचकशक्तिसङ्केतग्रहणनिमित्तेन शब्दादयः स्पष्टरीत्या पदार्थज्ञान जनयन्तीति भावः॥ ९६ ॥

विशेषार्थ —'घट शब्द' मे कम्बुग्रीवादि वाले घडे को कहने की शक्ति है। और उस घड़े मे कहे जाने की शक्ति है। जिस व्यक्ति के ऐसा संकेत हो जाता है कि यह शब्द घडे को कहता है उस व्यक्ति को घट शब्द के सुनने मात्र से ही घड़े का ज्ञान हो जाता है और वह घडे को शीघ्र ले भी आता है।

शब्द से अर्थावबोध होने का दृष्टान्त—

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥ ९७ ॥

अर्थ.—जैसे सुमेरु आदिक हैं। अर्थात् जैसे मेरुशब्द के कहने मात्र से ही जम्बूद्वीप के मध्यस्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार सर्वत्र शब्द से अर्थ का बोध हो जाता है।

संस्कृतार्थ —यथा मेर्वादयः सन्तीत्यादिवाक्यश्रवणात् सहजयोग्यताश्रयेण हेमाद्रिप्रभृतीनां बोधो शब्दादर्थावबोधो जायते ॥ ९७ ॥

चतुर्थः परिच्छेदः

प्रमाणविषयनिर्णयः, प्रमाण के विषय का निर्णय

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥ १ ॥

अर्थ.—सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप वस्तु प्रमाण का विषय होता है।

संस्कृतार्थः—अनुगतप्रतीतिविषयत्वं नाम सामान्यत्वम्। व्यावृत्तप्रतीतिविषयत्वं नाम विशेषत्वम्, सामान्य च विशेषश्चेति सामान्यविशेषौ, तौ आत्मानौ यस्य स. सामान्यविशेषात्मा, स तस्य प्रमाणस्य प्राप्तोऽर्थः इति तदर्थ.। तथा च सामान्यविशेषोभयधर्मस्वरूप· प्रमाणप्राप्तः पदार्थ. प्रमाणगोचरो भवतीति भावः ॥ १ ॥

विशेषार्थ.—द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता, किन्तु द्रव्य और पर्याय उभयस्वरूप पदार्थ प्रमाण का विषय होता है, एक एक को प्रमाण का विषय मानने में बहुत से दोष हैं।

वस्तु की अनेकान्तात्मकता के समर्थन में हेतु—

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

अर्थ—जो जो जो इस प्रकार अनुवृत्ताकार (यह गौ है गौ है) ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। तथा यह काली है, यह चितकबरी है इत्यादि भिन्न भिन्न (यह यह नहीं है ऐसी) प्रतीति को उत्पन्न करते हैं। पदार्थों के कार्यों की अर्थक्रिया करते हैं। [illegible]

...गुणपरिणत्या अर्थक्रियासिद्धेश्च वस्तु सामान्यविशेषा-द्यनेकधर्मात्मकत्वा सिद्धयति ॥ २ ॥

सामान्यभेदौ, सामान्य के भेद—

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥

अर्थ—सामान्य के दो भेद हैं। तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य। संस्कृतार्थ—तिर्यक्सामान्यम्, ऊर्ध्वतासामान्यमिति सामान्यस्य द्वौ भेदौ स्त. ॥ ३ ॥

तिर्यक्सामान्य का स्वरूप वा दृष्टान्त—

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥४॥

अर्थः—समान परिणमन को तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे खांडी, मुण्डी और शावली आदि गायों में गोत्व सदृश-परिणमन है।

संस्कृतार्थ—सादृश्यात्मको धर्मस्तिर्यक्सामान्यं प्रोच्यते, यथा खण्डमुण्डादिषु गोषु गोत्वम् ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—सब गायों का परिणमन समान होता है, इसलिये सब ही को गोशब्द से व्यवहृत करते हैं। यहां गोत्व का अर्थ सदृशपरिणाम लिया है और यह प्रत्येक गाय में भिन्नता से रहता है, व्यक्तियों के समान ही संख्या वाला है, एक नहीं।

ऊर्ध्वतासामान्य का स्वरूप और दृष्टान्त—

परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।

अर्थः—पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। जैसे स्थास और कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी रहती है। यहां पर मिट्टी ही ऊर्ध्वतासामान्य मानी जायेगी।

संस्कृतार्थः—पूर्वे च परे च ये विवर्तास्तेषु व्याप्नोतीति परापरविवर्तव्यापि। यथा च पूर्वोत्तरकोशस्थासादिषु मृत्

द्रव्यत्व नाम ऊर्ध्वतासामान्यं। यथा स्थासकोशकुशूलादिषु पर्यायेषु व्यापकत्व मृत्तिकाद्रव्यम् ॥ ५ ॥

विशेषस्य भेदौ, विशेष के भेद—

विशेषश्च ॥ ६ ॥

अर्थ—विशेष के भी दो भेद हैं। संस्कृतार्थः—विशेषस्यापि द्वौ भेदौ विद्येते ॥ ६ ॥

विशेषभेदस्य नाम्नी, विशेष के भेदो के नाम—

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥

पर्यायो व्यतिरेकश्चेति द्वौ विशेषस्य भेदौ स्तः ॥ ७ ॥

पर्यायविशेष का स्वरूप वा उदाहरण—

एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—एक द्रव्य मे क्रम से होने वाले परिणामो को पर्याय कहते हैं। जैसे आत्मा मे हर्ष और विषाद।

संस्कृतार्थ—एकस्मिन्द्रव्ये क्रमशः समुत्पद्यमाना भावा पर्यायविशेषाः प्रोच्यन्ते। यथात्मनि हर्षविषादादयो भावाः ॥८॥

व्यतिरेकविशेष का लक्षण वा उदाहरण—

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्

अर्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं। जैसे गो से महिष (भैंसा) मे एक विलक्षण (भिन्न) ही परिणमन होता है।

संस्कृतार्थ—अन्ये अर्था अर्थान्तराणि, तानि गत इत्यर्थान्तरगतः। विसदृशश्चासौ परिणामो विसदृशपरिणामः। तथा च भिन्नभिन्नपदार्थनिष्ठत्वे सति विलक्षणधर्मत्वं नाम व्यतिरेकत्वम। यथा पारस्परिकवैलक्षण्यविशिष्टा गोमहिषादयस्तिर्यञ्च ॥ ९ ॥

अथ पंचमः परिच्छेदः

प्रमाणफलनिर्णय, प्रमाण के फल का निर्णय—

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रमाण का साक्षात् फल-अज्ञान की निवृत्ति (नाश) है तथा परम्परा फल-हान (त्याग) उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा (उदासीनता) है।

संस्कृतार्थः—अज्ञानस्य निवृत्तिः अज्ञाननिवृत्तिः। प्रमेयाज्ञाननिराम इत्यर्थः। हानं च उपादानं च उपेक्षा चेति हानोपादानोपेक्षा—त्यागग्रहणानादराः इत्यर्थः। तथा च—प्रमाणस्य फलं द्विविधं, साक्षात्फलं परम्पराफलं चेति। तत्र साक्षात्फलम् अज्ञाननिवृत्तिः, परम्पराफलं च—क्वचिद्वस्तुत्यागः, क्वचिद्वस्तुग्रहणं, क्वचिद्वस्त्वनादरो वा। त्यागादीनां प्रमेयनिश्चयोत्तरकालभावित्वात् ॥ १ ॥

भावार्थः—प्रमाण के द्वारा पहले अज्ञान की निवृत्ति होती है। बाद में किसी वस्तु का त्याग अथवा ग्रहण होता है या उसमें उपेक्षाभाव होता है, इसलिये इन तीनों को परम्पराफल कहते हैं और अज्ञान की निवृत्ति को साक्षात् फल कहते हैं।

प्रमाणफलस्य व्यवस्था, प्रमाण के फल की व्यवस्था—

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥ २ ॥

अर्थ—यह फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न तथा कथञ्चित् भिन्न होता है।

संस्कृतार्थः—[illegible] [illegible] कथञ्चित्प्रमाणात् भिन्नं [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] ॥ २ ॥

प्रत्यक्षबाधित का उदाहरण—

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा, अनुष्णोऽग्नि द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥

अर्थ —अग्नि ठडी होती है, क्योंकि वह द्रव्य है। जो द्रव्य होता है वह ठण्डा होता है जैसे जल। यहा 'अग्नि ठडी होती है' यह पक्ष स्पार्शनप्रत्यक्ष से बाधित है, क्योंकि छूने से अग्नि गर्म मालूम होती है।

संस्कृतार्थ —अनुष्णोऽग्नि द्रव्यत्वात, जलवत। अत्र 'अग्निरनुष्ण' इति पक्ष स्पार्शनप्रत्यक्षेण बाधितो विद्यते, यत' स्पर्शनेनाग्निरुष्ण प्रतीयते। अतोऽय पक्षः स्पार्शनेनप्रत्यक्षेण बाधितो विद्यते॥ १६॥

अनुमानबाधितपक्षाभास का उदाहरण—

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ॥ १७ ॥

अर्थः—शब्द अपरिणामी (नित्य) होता है क्योंकि वह किया जाया है, जो किया जाता है वह अपरिणामी होता है, जैसे घट। यह अनुमानबाधित पक्षाभास का उदाहरण है। क्योंकि यहा पक्ष मे 'शब्द परिणामी (अनित्य) होता है, क्योंकि वह किया जाता है, जो किया जाता है, वह परिणामी होता है, जैसे घट।' इस अनुमान से बाधा आती है।

संस्कृतार्थ.—अपरिणामी शब्द कृतकत्वात्। यो यः कृतको विद्यते स स अपरिणामी, यथा घट। अनुमानबाधितपक्षाभासोदाहरणमिदम्। यतोऽत्र पक्षे 'शब्द परिणामी, कृतकत्वात, यो यः कृतक, स सः परिणामी, यथा घट.' इत्यनुमानेन बाधा आयाति।

आगमबाधितपक्षाभास का उदाहरण—

प्रेत्यासुखदो धर्मः, पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत ॥ १८ ॥

अर्थ :—मुग्धबुद्धि के प्रति 'धूम' हेतु इसलिये सन्दिग्धासिद्ध है कि उसे भूतसंघात में वाष्पादि देखने से सन्देह हो जाता है, कि यहां भी अग्नि है अथवा होगी।

संस्कृतार्थ :—मुग्धबुद्धिम्प्रति धूमहेतुरत्र स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासो विद्यते, यतस्तस्य भूतसंघाते वाष्पादिदर्शनात् सन्देह उत्पद्यते, यदत्र वह्नि वर्तते, वर्तेत वा ॥२६॥

विशेषार्थ :—भूतसंघात = चूल्हे से उतारी हुई बटलोई। उसमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु चारों ही रहते हैं और भाप भी निकलती रहती है।

असिद्धहेत्वाभास का भेदान्तर—

सांख्यम्प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२७॥

अर्थ :—सांख्य के प्रति यह कहना कि शब्द परिणामी होता है, क्योंकि वह किया जाता है। यह हेतु सांख्य के प्रति असिद्ध हेत्वाभास है।

संस्कृतार्थ :—परिणामी शब्दः कृतकत्वादिति कथनं सांख्यम्प्रत्यसिद्धो हेत्वाभासो विद्यते ॥२७॥

उपर्युक्त सत्ताइसवें सूत्र के कथन की पुष्टि—

तेनाज्ञातत्वात् ॥२८॥

अर्थ :—सांख्य कृतकता (कृतकपने) को मानता ही नहीं है, क्योंकि उसके यहां आविर्भाव और तिरोभाव ही प्रसिद्ध है, उत्पत्ति और विनाश नहीं। इसलिये शब्द का कृतकपना उसकी दृष्टि में असिद्ध हेत्वाभास है।

संस्कृतार्थ :—सांख्यसिद्धान्ते आविर्भावतिरोभावावेव प्रसिद्धौ, नोत्पत्तिविनाशौ। अतः शब्दस्य कृतकत्वं तद्दृष्ट्या असिद्धो हेत्वाभासो जायते ॥ २८ ॥

विरुद्धहेत्वाभास का स्वरूप—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धो ऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥

अर्थः—साध्य से विपरीत (विपक्ष) के साथ जिस हेतु की व्याप्ति हो, उस हेतु को विरुद्धहेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द अपरिणामी (नित्य) होता है, क्योंकि वह कृतक (किया गया) है। यहां किया जाना हेतु अपने साध्यभूत नित्यत्व से विपरीत अनित्यत्व के साथ रहता है, इसलिये यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

संस्कृतार्थः—साध्यविरुद्धेन (विपक्षेण) सह निश्चिताविनाभावो हेतुर्विरुद्धो हेत्वाभासो निरूप्यते। यथा-अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। अत्रास्य हेतोरपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन सह व्याप्तिः विद्यते, अतोऽयं हेतुर्विरुद्धहेत्वाभासः मतः ॥ २९ ॥

विशेषार्थः—इस अनुमान में अपरिणामित्व साध्य है, परंतु कृतक हेतु उसके साथ व्याप्ति नहीं रखता। किन्तु उससे उल्टे परिणामीपने के साथ व्याप्ति रखता है, इसलिये यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अनैकान्तिकहेत्वाभास का स्वरूप—

विपक्षे ऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥ ३० ॥

अर्थः—जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष (साध्य के अभाव) में भी रहता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।

संस्कृतार्थः—[illegible]

संस्कृतार्थ :—सांख्याभिमत सामान्यतत्त्व, सौगताभिमतं विशेषतत्त्वं, यौगाभिमत परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषरूप-तत्त्वञ्च विषयाभासो भवति, तथा प्रतिभासनाभावात्, अर्थक्रियाकारित्वाभावाच्च ॥६२॥

स्वय समर्थपदार्थ के निरपेक्ष कार्यकारित्व माननेसे हानि-

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।६३॥

अर्थ :—यदि वह पदार्थ समर्थ होता हुआ कार्य करता है तो निरन्तर ही काय की उत्पत्ति होना चाहिये, क्योंकि वह अपने कार्य में किसी की मदद नहीं चाहता है जिससे उसको निरन्तर कार्य करना चाहिये ।

संस्कृतार्थ :—किञ्च तदेकान्तात्मक तत्त्व स्वय समर्थम-समर्थं वा कार्यकारि स्यात् ? तत्र समर्थत्वे किं निरपेक्ष कार्यं कुर्यात्सापेक्षम्वा ? न तावत्प्रथम पक्ष । निरपेक्षस्य समर्थतत्त्वस्य कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात ॥६३॥

स्वयसमर्थ पदार्थके सहकारिसाहाय्यसे कार्यकारित्व माननेसे हानि-

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ॥६४॥

अर्थ :—यदि सामान्यादि परपदार्थ की अपेक्षा करें, तो उन्हें परिणामी मानना पड़ेगा । क्योंकि वे पहले कार्य नहीं करते थे, जब सहकारी मिला तब कार्य किया । इससे वे पहिले स्वय असमर्थ थे, सहकारी के निमित्त से नवीन सामर्थ्य पाया । परिणामीपने के विना यह हो नहीं सकता कि एकाकी तो कार्य नहीं करे और मिल कर कार्य करे ।

संस्कृतार्थ :—नापि द्वितीय: पक्ष । सापेक्षसमर्थतत्त्वस्य कार्यजनकत्वाभ्युपगमे परिणामित्वप्रसङ्गात्, सामान्यविशेषात्मकत्वसिद्धे ,एकतत्त्वस्य परिणामित्वाभावे कार्यजनकत्वायोगात् ।

स्वयं असमर्थ पदार्थ के कार्यकारित्व मानने से

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत् ॥६५॥

अर्थ :—जो स्वयं असमर्थ है वह भी सहकारी मिलने पर भी किसी कार्य को नहीं कर सकता। जैसे पहले सहकारी बिना कार्य करने वाला नहीं था तैसे सहकारी मिलनेपर भी नहीं।

संस्कृतार्थः—स्वयमसमर्थेन सत्त्वेन कार्योत्पत्तिस्तु वन्ध्या-सुतवत् असम्भवैव। तस्मात्सामान्यविशेषात्मकपदार्थ एव प्रमा-णगोचरो भवति, शेषश्च विषयाभास इति ॥ ६५॥

प्रमाणफलाभास का वर्णन—

फलाभासः प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥६६॥

अर्थ :—प्रमाण से उसके फल को सर्वथा भिन्न ही या सर्वथा अभिन्न ही मानना प्रमाणाभास है।

संस्कृतार्थ :—प्रमाणात्सर्वथा अभिन्नमथवा सर्वथा भिन्नं फलम् फलाभासः कथ्यते ॥ ६६ ॥

फल को प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न मानने में हानि—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥६७॥

अर्थ :—यदि प्रमाण से फल सर्वथा अभिन्न ही माना जायगा तो यह प्रमाण है तथा यह फल है, इस प्रकार भिन्नत्व का व्यवहार नहीं होगा। या तो प्रमाण ही रहेगा या फल ही रहेगा, क्योंकि जुदे जुदे दो पदार्थ तो हैं ही नहीं।

संस्कृतार्थ :—ननु प्रमाणात्सर्वथा अभिन्नं फलम् [illegible] फलाभास इति न शङ्कनीयं, प्रमाण सर्वथा अभिन्नत्वा-[illegible] इदं प्रमाणम्, इदं च प्रमाणस्य फलम् इति व्यवहा-रस्यानुपपत्तेः ॥ ६७ ॥

[illegible] प्रमाण और फल का व्यवहार करने में आपत्ति—

व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्त्या-ऽफलत्वप्रसङ्गात् ॥ ६८ ॥

अर्थ :—[illegible] को [illegible] की [illegible]

नयविषयिको निबन्धः—

प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषो नयः। तदुक्तम् 'सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः' इति। स नयः संक्षेपेण द्वेधा, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः।

तत्र द्रव्यार्थिको नयो द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकम् अनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयभेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्युपजानन् स्वविषयं द्रव्यभेदमेव व्यवहारयति। 'नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नयः' इत्यभिधानात्।

तत्र द्रव्यार्थिको नयः त्रिविधः—नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात्। अन्योन्यगुणप्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणो नैगमः। प्रतिपक्षव्यपेक्षः सन्मात्रग्राही संग्रहः। संग्रहगृहीतार्थभेदको व्यवहारः।

पर्यायार्थिकनयस्तु चतुर्विधः—ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदात्। शुद्धपर्यायग्राही प्रतिपक्षसापेक्षः ऋजुसूत्रः। कालकारकलिङ्गादीनाम्भेदात् स्वस्य कथञ्चिदर्थभेदकथनं शब्दनयः। पर्यायभेदात् पदार्थनानात्वनिरूपकः समभिरूढः। क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपकः एवम्भूतः। एते नयाः सापेक्षाः एवार्थक्रियां कुर्वते।

परीक्षामुखमादर्शं, हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे मादृशो बालः, परीक्षादक्षवद्व्यधाम्॥

भावार्थः—जिस प्रकार परीक्षा करने में कुशल व्यक्ति अपने प्रारब्ध कार्य को पूरा करके ही छोड़ते हैं, उसी तरह अपने सदृश मन्दबुद्धि वाले बालकों के हेय और उपादेय तत्त्वों का ज्ञान कराने के लिये दर्पण के समान इस परीक्षामुख ग्रन्थ को मुझ अल्पज्ञ ने पूर्ण किया। * इति *

भारत प्रेस, जबलपुर में मुद्रित।

इस प्रकार जहां कहीं भी निर्दोष लक्ष्यलक्षणभाव किया जावेगा वहां सब जगह शाब्दसामानाधिकरण्य पाया जायगा। इस नियम के अनुसार 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्' यहां असाधारणधर्म जब लक्षण होगा तो लक्ष्य धर्मी होगा और लक्षणवचन धर्मवचन तथा लक्ष्यवचन धर्मीवचन माना जायगा। किन्तु लक्ष्यरूप धर्मीवचन का प्रतिपाद्य अर्थ एक नहीं है। धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ तो धर्म है और धर्मिवचन का प्रतिपाद्य अर्थ धर्मी है। ऐसी हालत में दोनों का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न भिन्न होने से धर्मीरूप लक्ष्यवचन और धर्मरूपलक्षणवचन में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है और इसलिये उक्तप्रकार का लक्षण करने में शाब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्त असम्भव दोष आता है।

अव्याप्ति दोष भी इस लक्षण में आता है। दण्डादि असाधारणधर्म नहीं है फिर भी वे पुरुष के लक्षण होते हैं। अग्नि की उष्णता, जीव का ज्ञान आदि जैसे अपने लक्ष्य में मिले हुये होते हैं इसलिये वे उनके असाधारणधर्म कहे जाते है। वैसे दण्डादि पुरुष में मिले हुये नहीं है—उससे पृथक हैं और इसलिये वे पुरुष के असाधारण धर्म नहीं है। इस प्रकार लक्षणरूप लक्ष्य के एकदेश अनात्मभूत दण्डादि लक्षण में असाधारणधर्म के न रहने से लक्षण (असाधारणधर्म) अव्याप्त है।

इतना ही नहीं, इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष भी आता है। शाबलेयत्वादिरूप असाधारण धर्म अव्याप्त नाम का लक्षणाभास भी है। इसका खुलासा निम्नप्रकार है —

मिथ्या अर्थात्—सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। इसके तीन भेद हैं:—१ अव्याप्त, २ अतिव्याप्त और ३ असम्भवि। लक्ष्य के एकदेश में रहने को अव्याप्त

प्रामाण्य का निश्चय परिचित विषय में स्वतः और अपरिचित विषय में परतः होता है। परिचित—कई बार जाने हुये अपने गाँव के तालाब का जल वगैरह अभ्यस्त विषय है और अपरिचित—नहीं जाने हुये दूसरे गाँव के तालाब का जल वगैरह अनभ्यस्त विषय है। ज्ञान का निश्चय कराने वाले कारणों के द्वारा ही प्रामाण्य का निश्चय होना 'स्वतः' है और उससे भिन्न कारणों से होना 'परतः' है।

उनमें से अभ्यस्त विषय में 'जल है' इस प्रकार ज्ञान होने पर ज्ञानस्वरूप के निश्चय के समय में ही ज्ञानगत प्रमाणता का भी निश्चय अवश्य हो जाता है। नहीं तो दूसरे ही क्षण में जल में सन्देहरहित प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु जलज्ञान के बाद ही सन्देहरहित प्रवृत्ति अवश्य होती है। अतः अभ्यास दशा में तो प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही होता है।

पर अनभ्यास दशा में जलज्ञान होने पर 'जलज्ञान मुझे हुआ' इस प्रकार से ज्ञान के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर भी उसके प्रामाण्य का निश्चय अन्य (अर्थक्रियाज्ञान अथवा संवादज्ञान) से ही होता है। यदि प्रामाण्य का निश्चय अन्य से न हो—स्वतः ही हो तो जलज्ञान के बाद सन्देह नहीं होना चाहिये। पर सन्देह अवश्य होता है कि 'मुझ को जो जल का ज्ञान हुआ है वह जल है या बालू का ढेर ?' इस सन्देह के बाद ही कमलों की गन्ध, ठण्डी हवा के आने आदि से जिज्ञासु पुरुष निश्चय करता है कि 'मुझे जो पहले जल का ज्ञान हुआ है वह प्रमाण है—सच्चा है, क्योंकि जल के बिना कमल की गन्ध आदि नहीं आ सकती है।' अतः निश्चय हुआ कि अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निर्णय पर से ही होता है।

योगाभिमत सन्निकर्ष के प्रमाणता का निराकरण

नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध) को प्रमाण मानते हैं। पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है, वह प्रमिति के प्रति करण कैसे हो सकता है ? प्रमिति के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे ? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे ?

दूसरी बात यह है, कि चक्षु इन्द्रिय 'रूप का' ज्ञान सन्निकर्ष के बिना ही कराती है, क्योंकि वह अप्राप्यकारी है। इसलिये सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्यक्ष में सन्निकर्षरूपता भी नहीं है। चक्षु इन्द्रिय को जो यहां अप्राप्यकारी कहा गया है वह असिद्ध नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष से चक्षु इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता का ज्ञान होता है।

शङ्का—यद्यपि चक्षु इन्द्रिय की अप्राप्यकारिता (पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित न करना) प्रत्यक्ष से मालूम नहीं होती, तथापि वह परमाणु की तरह अनुमान से सिद्ध होगी। जिस प्रकार परमाणु प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने पर भी अनुमान से सिद्ध है, क्योंकि स्थूल कार्य परमाणुओं के बिना नहीं हो सकते, इस अनुमान से उनकी सिद्धि होती है, उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करने वाली है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय है (बाहर से दिखाई देने वाली इन्द्रिय है) जो बहिरिन्द्रिय है वह पदार्थ को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती है, जैसे स्पर्शन [illegible]

समाधान—नहीं, यह अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है—अनुमानाभास है। वह इस प्रकार से है—

इस अनुमान में 'चक्षु' पद से कौनसी चक्षु को पक्ष बनाया है? लौकिक (गोलकरूप) चक्षु को अथवा अलौकिक (किरणरूप) चक्षु को? पहले विकल्प में, हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय नाम का हेत्वाभास) है, क्योंकि गोलकरूप लौकिक चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को भी प्रतीत न होने से उसकी विषय-प्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है।

दूसरे विकल्प में, हेतु आश्रयासिद्ध है, क्योंकि किरण रूप अलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है, कि वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा का एक ही काल में ग्रहण होने से चक्षु अप्राप्यकारी ही प्रसिद्ध होती है। अतः उपर्युक्त अनुमानगत हेतु कालात्ययापदिष्ट और आश्रयासिद्ध होने के साथ ही प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) भी है। इस प्रकार सन्निकर्ष के बिना भी चक्षु के द्वारा रूपज्ञान होता है। इसलिये सन्निकर्ष अव्याप्त होने से प्रत्यक्ष का स्वरूप नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई।

शङ्का–समाधानपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि

शङ्का—सर्वज्ञता ही जब अप्रसिद्ध है तब आप यह कैसे कहते हैं कि 'अरिहन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं'? क्योंकि जो सामान्यतया कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है उसका किसी खास जगह में व्यवस्थापन नहीं हो सकता है?

समाधान—नहीं, सर्वज्ञता अनुमान से सिद्ध है। वह अनुमान इस प्रकार है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं।

जैसे अग्नि आदि पदार्थ। स्वामी समन्तभद्र ने भी महाभाष्य के प्रारम्भ में आप्तमीमांसाप्रकरण में कहा है—"सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं; जैसे अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ भले प्रकार सिद्ध होता है।"

सूक्ष्म पदार्थ वे हैं जो स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं—दूर हैं, जैसे परमाणु आदि। अन्तरित वे हैं जो काल से विप्रकृष्ट हैं, जैसे राम आदि। दूर वे हैं जो देश से विप्रकृष्ट हैं, जैसे मेरु।

ये 'स्वभाव, काल और देश से विप्रकृष्ट पदार्थ' यहाँ धर्मी (पक्ष) हैं। 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' यह साध्य है। यहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ 'प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय' यह विवक्षित है, क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में भी उपचार होता है। 'अनुमान से जाने जाते हैं' यह हेतु है। 'अग्नि आदि' दृष्टान्त है। 'अग्नि आदि' दृष्टान्त में 'अनुमान से जाने जाते हैं' यह हेतु 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' इस साध्य के साथ पाया जाता है। अतः यह परमाणु आदि सूक्ष्मादि पदार्थों के भी किसी की प्रत्यक्षता को अवश्य सिद्ध करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि आदि अनुमान से जाने जाते हैं, अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूँकि हम लोगों के द्वारा अनुमान से जाने जाते हैं। [illegible]

शङ्का—सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के द्वारा किसी के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो, यह हम मान सकते हैं। परन्तु वह अतीन्द्रिय है—इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है, यह कैसे ?

समाधान—इस प्रकार—यदि ज्ञान इन्द्रियजन्य हो तो सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषय (सन्निहित और वर्तमान अर्थ) में ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं। और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं। अत वह सम्पूर्ण पदार्थ-विषयिक ज्ञान अतीन्द्रिय ही है—इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अतीन्द्रिय है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से सर्वज्ञ को मानने मे किसी भी सर्वज्ञवादी को विवाद नहीं है। जैसा कि दूसरे भी कहते हैं—"पुण्य-पापादिक किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे प्रमेय है।"

सामान्य से सर्वज्ञ को सिद्ध करके अरिहन्त के सर्वज्ञता की सिद्धि—

शंका—सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्यतया सिद्ध हो; परन्तु वह अरिहन्त के है यह कैसे ? क्योंकि 'किसी के' यह सर्वनाम शब्द है और सर्वनाम शब्द सामान्य का ज्ञापक होता है ?

समाधान—सत्य है। इस अनुमान मे सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि की है। 'अरिहन्त सर्वज्ञ हैं' यह हम अन्य अनुमान से सिद्ध करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—अरिहन्त सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष नहीं है, जैसे रथ्यापुरुष (पागल)।' यह केवलव्यतिरेकिहेतुजन्य अनुमान है।

विरोध इस कारण नहीं है कि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाण से बाधित नहीं है। किन्तु तुम्हारे अनेकान्त मतरूप अमृत का पान नहीं करने वाले तथा सर्वथा एकान्त तत्त्व का कथन करने वाले और अपने को आप्त समझने के अभिमान से दग्ध हुए एकान्तवादियों का इष्ट (अभिमत तत्त्व) प्रत्यक्ष से बाधित है।" इसलिये अरिहन्त ही सर्वज्ञ है।

आगम प्रमाण का लक्षण—

आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ 'आगम' यह लक्ष्य है और शेष उसका लक्षण है। 'अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' इतना ही यदि आगम का लक्षण कहा जाय तो प्रत्यक्षादिक में अतिव्याप्ति है, क्योंकि प्रत्यक्षादिक भी अर्थज्ञान हैं। इसलिये 'वचनों से होने वाले' यह पद—विशेषण दिया है। वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को' आगम का लक्षण कहने में भी स्वेच्छापूर्वक (जिस किसी के) कहे हुये भ्रमजनक वचनों से होने वाले अथवा सोये हुये पुरुष के और पागल आदि के वाक्यों से होने वाले 'नदी के किनारे फल हैं' इत्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति है, इसलिये 'आप्त' यह विशेषण दिया है। 'आप्त के वचनों से होने वाले ज्ञान को' आगम का लक्षण कहने में भी आप्त के वाक्यों को सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसमें लक्षण अतिव्याप्त है, अतः 'अर्थ' यह पद दिया है। 'अर्थपद तात्पर्य में रूढ है। अर्थात्—प्रयोजनार्थक है क्योंकि 'अर्थ ही—तात्पर्य ही वचनों में है' ऐसा आचार्यवचन है। मतलब यह कि यहाँ 'अर्थ' पद का अर्थ तात्पर्य विवक्षित है, क्योंकि वचनों में तात्पर्य ही होता है। इस तरह आप्त के वचनों से होने वाले अर्थ (तात्पर्य) ज्ञान को जो आगम का लक्षण कहा गया है वह पूर्ण निर्दोष है। जैसे—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-

प्रमाणवचनका सातवाँ रूप बन जाता है। जैनदर्शन में इसको प्रमाणसप्तभंगी नाम दिया गया है।

नयवचन के सप्तभंग

वस्तु के सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्वधर्म का प्रतिपादन करना नयवचनका पहला रूप है। असत्त्व धर्म का प्रतिपादन करना नयवचनका दूसरा रूप है। उभय धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचन का तीसरा रूप है। और चूंकि उभयधर्मों का युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है अतः इस तरह से अवक्तव्य नामका चौथा रूप नयवचन का निष्पन्न होता है। नयवचन के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों को प्रमाणवचन के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों के समान समझ लेना चाहिये। जैनदर्शन में नयवचन के इन सात रूपों को नयसप्तभंगी नाम दिया गया है।

इन दोनों प्रकार की सप्तभंगियों में इतना ध्यान रखने की जरूरत है कि जब सत्त्व—धर्ममुखेन वस्तु के सत्त्वधर्म का प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तु की असत्त्वधर्म-विशिष्टता को अथवा वस्तु के असत्त्वधर्म को अविवक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्त्वधर्ममुखेन वस्तु का अथवा वस्तु के असत्त्वधर्म का प्रतिपादन करते समय वस्तु की सत्त्व-धर्मविशिष्टता अथवा वस्तु के सत्त्वधर्म के बारे में समझना चाहिये। इस प्रकार उभयधर्मों की विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गौणता) के स्पष्टीकरण के लिये स्याद्वाद अर्थात् स्यात् की मान्यता को भी जैनदर्शन में स्थान दिया गया है।

स्याद्वाद का अर्थ है—किसी भी धर्म के द्वारा वस्तु का अथवा वस्तु के किसी भी धर्म का प्रतिपादन करते वक्त उसके

सप्तभंग के नाम स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य।

व्यावृत्ति, इति चेत्तर्हि तदेतदवन्निराधिकरणानिशेषापेक्षया सदसदात्मकमनेकान्तमिति अन्वयदृष्टान्तत्वं भवत्येव प्रतिपादितमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता। ततो नयानां मुख्यगौणत्वविवक्षया निखिलवस्तुनि अनेकधर्मसमानाधिकरण्यमविरुद्धं सत् सिद्धिमध्यास्ते एव। "नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नयः" इत्यभिधानात्।

यथा सुवर्णमानयेत्युक्ते सति द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण स्वर्णद्रव्यानयनचोदनायां कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, स्वर्णरूपेण कटकादीनां भेदाभावात्। द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानं पर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्तते, कटकादिपर्यायस्य ततो भिन्नत्वात्। ततो द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण स्वर्णं स्यादेकमेव, पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव, क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण स्यादेकानेकं, युगपदुभयनयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यं। युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तस्वरूपयोरेकत्वानेकत्वयोर्विमर्शाभावात् युगपदुभयनयाभिप्रायेण द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेन च स्यादेकावक्तव्यं, युगपदुभयनयाभिप्रायेण पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण च स्यादनेकावक्तव्यं, क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण युगपदुभयनयाभिप्रायेण च स्यादेकानेकावक्तव्यम्। सैषा नयविनियोगपरिपाटी सप्तभंगीत्युच्यते। भंगशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात्। सप्तानां भगानां समाहारः सप्तभंगीति सिद्धेः।

नन्वेकत्र वस्तुनि सप्तानां भङ्गानां कथं संभव इति चेत्—यथैकस्मिन् घटे रूपवान् घटः रसवान् गन्धवान् स्पर्शवानिति पृथक् व्यवहारनिबंधना रूपत्वादिस्वरूपभेदाः सम्भवन्ति, तथैकस्मिन् वस्तुनि स्वरूपावस्थितानां सप्तभङ्गानां सम्भवं ज्ञात्वा संतोष्टव्यमायुष्मता। तदुक्तं च श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यवर्यैः "अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते

उष्णोऽग्निः, ज्ञानी जीवः, सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, इत्यादौ उष्णः, ज्ञानी, सम्यग्ज्ञानम्, एतानि लक्षणवचनानि। अग्निः, जीवः, प्रमाणम्, एतानि च लक्ष्यवचनानि। अत्र लक्षणवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नोऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यः। एवं लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्षणवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नः। यतो हि उष्ण इत्युक्ते अग्निरित्युक्तं भवति, अग्निरित्युक्ते उष्ण इत्युक्तं भवति इत्यादि बोध्यम्। ततश्चेदं सिद्धं यत्र कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावः क्रियेत तत्र सर्वत्रापि लक्षणवचनलक्ष्यवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्। इत्थं च प्रकृते असाधारणधर्मस्य लक्षणत्वस्वीकारे लक्षणवचनं धर्मवचनं, लक्ष्यवचनं च धर्मिवचनं स्यात्। न च लक्षणवचनरूपधर्मवचनलक्ष्यवचनरूपधर्मिवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यमस्ति ताभ्यां प्रतिपाद्यार्थस्य भिन्नत्वात्। धर्मवचनप्रतिपाद्यो हि धर्मः, धर्मिवचनप्रतिपाद्यश्च धर्मी, तौ च परस्परं सर्वथा भिन्नौ। तथा चासाधारणधर्मस्य लक्षणत्वे न कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं सम्भवति। ततश्च शाब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्तासम्भवदोषः समापतत्येव। तस्मान्न साधारणासाधारणधर्ममुखेन लक्षणकरणं यौक्तिकमपि तु परस्परव्यतिकरे येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणमित्यकलङ्कम्।
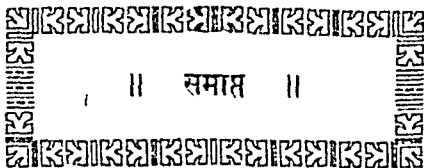
५—प्रत्यक्ष वा परोक्ष में, सामान्य या विशेष में, प्रतिज्ञा और निगमन में व्याप्ति वा तर्क में, साध्य वा साधन में, तथा उदाहरण वा दृष्टांत में क्या अन्तर है। अथवा—

बौद्धों वा नैयायिकों ने कितने कितने प्रमाण माने हैं? प्रमाण का फल क्या है? व्यतिरेकविशेष वा पर्यायविशेष में क्या भेद है? १५

६—'अभव्यों को मोक्ष नहीं होता, सम्यग्दर्शनादि के अभाव होने से' इस अनुमान में कौनसा हेतु है? इस ग्रन्थ का नाम परीक्षामुख क्यों रखा गया? १५

भा० दि० जैन महासभा परीक्षालय इन्दौर, सन् १९४८
न्यायदीपिकायां परीक्षामुखे च प्रश्नाः

१—परस्परविवदमानप्रमाणलक्षणेषु सम्यक्प्रमाणलक्षणं युक्तिप्रदर्शनपूर्वकं लेख्यम्। १६

२—स्मृतितर्कप्रमाणयोः पृथक् आवश्यकता सप्रमाणं साधनीया परोक्षप्रमाणभेदाश्च दर्शनीयाः। १६

३—सामान्यविशेषसर्वज्ञसिद्धिः पदार्थसिद्धिश्च कार्या, मिथ्यैकान्तसम्यगेकान्तस्वरूपभेदः प्रदर्शनीयः। १६

४—उपाधि-ऊहा-व्याप्ति-धारणा-तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यविशेष-व्याप्ति-उदाहरण प्रमाणाभास-पञ्चरूप्यैतेषां पारिभाषिकशब्दानां परिभाषा लेख्या। १६

५—नापि व्याप्तिस्मरणार्थं वा वरं, संदिग्धविपर्यस्ता, तत्प्रमाणत्वे स्वतः, सम्भवद सूत्रान् प्रदर्श्य ससन्दर्भा व्याख्या कार्या।१

६—न्यायशास्त्राध्ययनस्यावश्यकता, सप्तभंगी, नयः, हेत्वाभासा, आगमलक्षणं, प्रमाणफलम्, प्रमाणपरीक्षा, अनेकान्तता, प्रमाणोत्पत्ति एषु विषयेषु मध्ये एकमवलम्ब्य सुन्दरो निबन्धः लेखनीयः ॥ २० ॥

विषयानुक्रमणिका

अथ प्रथमः परिच्छेदः

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

अथ तृतीयः परिच्छेदः

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

अथ पंचम परिच्छेदः

अथ षष्ठः परिच्छेदः

परीक्षामुखसूत्रसूची

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥

अथ प्रथमः समुद्देशः

अथ द्वितीयः समुद्देशः

५२ [illegible]

५३ [illegible]

५४ [illegible]

५५ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्

५६ रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं
हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये

५७ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपल

५८ भाव्यतीतयो मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्

५९ तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्

६० सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात् सहोत्पादाच्च.

६१ परिणामी शब्द. कृतकत्वात् य एव स एव दृष्टो यथा घट, कृत
कश्चाय, तस्मात्परिणामीति यस्तु न परिणामी स न कृतको
यथा वन्ध्यास्तनधय., कृतकश्चाय तस्मात् परिणामी

६२ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धि र्व्याहारादे

६३ अस्त्यत्र छाया छत्रात्

६४ उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयात्

६५ उद्गाद्भरणि प्राक्तत एव, ६६ अस्त्यत्र मातुलिगे रूपं रसात्

६७ विरुद्धतदुपलब्धि प्रतिषेधे तथा

६८ नास्त्यत्र शीतस्पर्श. औष्ण्यात्

६९ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्

७० नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ८७

७१ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकट रेवत्युदयात् ८७

७२ नोदगाद्भरणि मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ८७

७३ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ८८

७४ अविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वो-
त्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ८८

७५ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धे ७६ नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे. ८९

अथ चतुर्थ समुद्देश.

अथ पंचमः समुद्देशः

अथ षष्ठ समुद्देशः

❀ श्री जिनाय नमः ❀

आचार्यप्रवर श्रीमाणिक्यनन्दिविरचित

परीक्षामुख

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा और उद्देश्य—

प्रमाणादर्थसंसिद्धि – स्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयो लक्ष्म, सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥

अर्थ :—प्रमाण (सच्चे ज्ञान) से पदार्थों का निर्णय होता है और प्रमाणाभास (झूठेज्ञान) से पदार्थों का निर्णय नही होता। इसलिये मन्दबुद्धि वाले बालको के हितार्थ उन दोनो के संक्षिप्त और पूर्वाचार्यप्रसिद्ध लक्षण कहता हू।

संस्कृतार्थ :—प्रमाणात् (सम्यग्ज्ञानात्) पदार्थानां निर्णय. प्रमाणाभासात् (मिथ्याज्ञानात्) पदार्थानामनिर्णयश्च जायते। अतो मन्दमतीनां बालकाना प्रबोधाय तयो· प्रमाणप्रमाणाभासयो. संक्षिप्त पूर्वाचार्यप्रसिद्धम्वा लक्षणमहं ग्रन्थकारो वक्ष्ये।

विशेषार्थ:–मा–अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी। आण–शब्द अर्थात् दिव्यध्वनि। प्र—उत्कृष्ट। मा च आणश्च माणौ, प्रकृष्टौ माणौ यस्य स. प्रमाण। उत्कृष्टलक्ष्मी और उत्कृष्टवाणी सहित व्यक्ति अरिहन्त भगवान् ही हैं। क्योकि अनन्तचतुष्टय रूप अन्तरङ्ग और समवसरणादिरूप बहिरङ्ग लक्ष्मी अन्य हरिहरादिक के सम्भव नहीं। तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से निर्बाध दिव्यध्वनि भी अन्य के सम्भव नहीं। इस प्रकार यहां प्रमाण शब्द का अर्थ 'अरिहन्त' हुआ। उनके असाधारण गुण

पदार्थों को भी जानता है अर्थात् अपने स्वरूप का तथा पर पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करता है वही प्रमाण या सच्चा-ज्ञान कहा जाता है।

'व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतु र्लक्षणम्' मिली हुई अनेक वस्तुओ मे से जुदे कराने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

प्रमाण का लक्षणान्तर या ज्ञान का प्रमाणपना—

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।

अर्थ :—जो सुख की प्राप्ति तथा दु:ख के दूर करने मे समर्थ होता है उसे प्रमाण कहते हैं। ऐसा वह प्रमाण 'ज्ञान' ही हो सकता है, अन्य सन्निकर्ष आदिक नही ॥ २ ॥

संस्कृतार्थ :—इन्द्रियार्थयोः सम्बन्ध सन्निकर्षः। स च सन्निकर्षोऽचेतनो विद्यते। अचेतनाच्च सुखावाप्ति दु खविनाशो वा न जायते, अत' सन्निकर्ष. प्रमाण नो भवेत्। परन्तु ज्ञानात्सुखावाप्तिः दुखविनाशो वा जायते, अतो ज्ञानमेव प्रमाणम् यत' सुखावाप्तौ दु.खविनाशे वा यत् समर्थं तदेव प्रमाणं प्रोक्तम्।

अस्यानुमानप्रयोगश्चेत्थम्— प्रमाण ज्ञानमेवेति प्रतिज्ञा, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वादिति हेतुः हिताहितप्राप्तिपरिहार-समर्थं हि ज्ञान, नान्यत, यथा घटादय. इत्युदाहरणम्। तथा चेदमित्युपनय। तस्मात्तथेति निगमनम्।

विशेषार्थ —इन्द्रिय और पदार्थों का सम्बन्ध सन्निकर्ष कहलाता है। वह सन्निकर्ष अचेतन होता है और अचेतन (जड) से सुख की प्राप्ति तथा दु ख का परिहार होता नही। इस कारण सन्निकर्ष प्रमाण नही हो सकता। परन्तु ज्ञान से सुख की प्राप्ति और दु ख का परिहार होता है, इसलिये ज्ञान प्रमाण है।

'प्रकर्षण मीयतेऽनेन' इति प्रमाणम्। अर्थात् जो सशय,

अपूर्वार्थस्य समर्थनम्, अपूर्वार्थ का समर्थन या लक्षण—

अनिश्चितो ऽ पूर्वार्थः ॥ ४ ॥

अर्थः—जिस पदार्थ का पहिले कभी किसी सच्चे ज्ञान से निर्णय नहीं हुआ हो उसे अपूर्वार्थ कहते हैं। प्रमाण ऐसे अपूर्वार्थ का निश्चय करता है। अत जो ज्ञान किसी प्रमाण से जाने हुये पदार्थ को जानता है वह प्रमाण नहीं होता, क्योंकि उसने उस पदार्थ का निश्चय नहीं किया, किन्तु निश्चित ही को जाना है।

संस्कृतार्थ :—कस्माच्चिदपि सम्यग्ज्ञानाद् यस्य पदार्थस्य कदापि निर्णयो न जात स अपूर्वार्थो निगद्यते। प्रमाण तमेव निश्चिनोति। अतो यज्ज्ञान कस्माच्चित्प्रमाणाद् विज्ञात पदार्थं विजानाति तन्न प्रमाणम्। यतस्तेन तस्य पदार्थस्य निश्चयो न विहित., किन्तु निश्चितमेव विज्ञातम् ॥ ४ ॥

विशेषार्थ :—ईहाज्ञान यद्यपि अवग्रहादिक के द्वारा ज्ञात पदार्थ को ही जानता है, परन्तु अवग्रहादिक जिस विशेष को नहीं जान सकते हैं उस अवान्तर विशेष (अन्यविशेष) को जानता है इसलिये ईहा का विषय अपूर्वार्थ ही है।

अपूर्वार्थस्य लक्षणान्तरम्, अपूर्वार्थ का दूसरा लक्षण—

दृष्टो ऽ पि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

अर्थ :—किसी प्रमाण से जाने हुयें पदार्थ के विषय मे भी जब संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय हो जाता है तब वह पदार्थ भी अपूर्वार्थ कहा जाता है। और उसका जानने वाला ज्ञान भी प्रमाणस्वरूप होता है।

संस्कृतार्थ :—केनापि प्रमाणेन विज्ञातेऽपि पदार्थे यदा संशयो, विपर्यय, अनध्यवसायो वा जायते तदा सोऽप्यपूर्वार्थो निगद्यते, तथा च तस्य वेदकं ज्ञानमपि प्रमाणस्वरूप भवेत् ॥५॥

स्वव्यवसायस्य समर्थनम्, स्वव्यवसाय का समर्थन—

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

अर्थ :—अपने आपके अनुभव से होने वाले प्रतिभास को स्वव्यवसाय (स्वस्वरूप का निश्चय) कहते हैं। इसमें "मैं अपने को जानता हूँ" ऐसी प्रतीति होती है।

संस्कृतार्थ :—स्वस्योन्मुखतया प्रतिभासनं स्वव्यवसाय निगद्यते। अत्र 'अहमात्मानं जाने' इति प्रतीति जायते ॥ ६ ॥

स्वव्यवसायस्य दृष्टान्त, स्वव्यवसाय का दृष्टांत—

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

अर्थ :—जिस प्रकार घट पट इत्यादि शब्दों का ज्ञान हमें ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के विषयभूत उन उन पदार्थों का ज्ञान भी हमें अवश्य होता है। उसी प्रकार जब आत्मा की ओर लक्ष्य होता है तब आत्मा क्या चीज है इसका भी ज्ञान अवश्य हो जाता है।

संस्कृतार्थ :—यथा यदा घटपटादिशब्दानां प्रतीति [illegible] यते तदा तज्ज्ञानविषयभूताना तत्तत्पदार्थानां ज्ञानमपि अस्मा भवश्यं जायते। तथा यदात्मानं प्रति लक्ष्य जायते तदाऽऽ किम्वस्तु विद्यते एतस्यापि ज्ञानमवश्य जायते ॥ ७ ॥

पदार्थ को जानने के समय होने वाली प्रतीति—

घटमहमात्मना वेद्मि ॥ ८ ॥

अर्थ :—मैं अपने द्वारा घट को जानता हूँ। इस ज्ञा अहम् और आत्मना पद से स्व का निश्चय होता है और पद से परपदार्थ घट का बोध होता है। इसी प्रकार प्रमा सर्वत्र स्व और पर का व्यवसाय होता है। इसलिये प्रमाण स्व और पर का निश्चायक कहा है।

संस्कृतार्थ :—'घटमहमात्मना वेद्मि' इति प्रतीतौ 'अहम्'
आत्मना' चेति पदाभ्यां स्वव्यवसायो जायते तथा घटम्पदेन
रपदार्थबोधो जायते। तथैव प्रामाण्येन सर्वत्र स्वस्य परस्य वा
ोधो जायते। अतएव प्रमाणं स्वपरनिश्चायक निगदितम् ॥८॥

विशेषार्थ —मैं (कर्त्ता) घट को (कर्म) ज्ञान से (करण)
ौर जानता हूँ (क्रिया)। ज्ञान के समय सर्वत्र इन चार बातों
ी प्रतीति होती है। उनमें 'मैं' करके अपनी प्रतीति होती है,
सी को ज्ञान के स्वरूप का निश्चय कहते हैं। क्योंकि यह
ात्मा की प्रतीति है और वह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस
ारण 'मैं' पद के द्वारा ज्ञान अपने आप को जानता है। 'घट
ो' इस पद के द्वारा अपूर्वार्थ (परपदार्थ) की प्रतीति होती है।
जानता हूँ' यह क्रिया की प्रतीति है, जिसे प्रमिति, अज्ञान
नेवृत्ति, ज्ञप्ति वा प्रमाणफल भी कहते हैं। और 'ज्ञान से' इस
ाद के द्वारा करणरूप प्रमाण की प्रतीति होती है जिसका फल
प्रज्ञाननिवृत्ति है।

रव्यवसायकतामात्रस्य खडनम्, केवल परव्यवसाय का खंडन–

कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

अर्थ :—प्रमाण के द्वारा जैसे घट पट इत्यादि रूप कर्म
का बोध होता है उसी प्रकार कर्त्ता (मैं) करण (अपने द्वारा)
और क्रिया (जानता हूँ) का भी बोध होता है। अर्थात प्रमाण
के द्वारा जैसे मैं घटपटादिक को जानता हूँ ऐसी प्रतीति होती है
उसी प्रकार कर्त्ता, करण और क्रिया के प्रति भी इन कर्त्ता
आदिक को भी जानता हूँ ऐसी प्रतीति होती है, इसमें बाधा नहीं,
अनुभवसिद्ध है। इसलिये प्रमाण को केवल परव्यवसायक मानना
ठीक नहीं है।

संस्कृतार्थ :— प्रमाणेन यथा घटपटादिरूपस्य कर्मणो

ब्दोच्चारण से ही होता है' इस प्रकार मानने वालो की
ान्यता का खण्डन किया गया है। यदि वे वाक्योच्चारण पक्ष
ं ऐसा मानते तो सत्य हो सकता था, परन्तु उनका ज्ञान को
ाब्दोच्चारणजन्य एकान्तरूप से कहना ठीक नही है।

शब्दोच्चारण विना भी स्वप्रतीति की पुष्टि—

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छँस्तदेव तथा नेच्छेत्

अर्थ :—लौकिक या परीक्षक ऐसा कौन पुरुष है जो
ज्ञान से प्रतिभासित हुये पदार्थों को तो प्रत्यक्षज्ञान का विषय
ाने, परन्तु स्वय ज्ञान को प्रत्यक्ष नही माने, अर्थात सभी मानेंगे,
के जब ज्ञान दूसरे पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है तब अपना भी
त्यक्ष करता होगा। यदि अपने को नही जानना होता, तो दूसरे
दार्थों को भी नहीं जान सकता। जैसे घट वगैरह अपने आप को
नहीं जानते, इसलिये दूसरो को भी नही जानते हैं।

सस्कृतार्थ :—यदा ज्ञानं परपदार्थप्रत्यक्षं करोति तदा
स्वस्य प्रत्यक्षमपि तस्यावश्य स्यात्। यदि च स्वं व जानीयात्तर्हि
परपदार्थान् ज्ञातुमपि न शक्नुयात्। यथा घटादय: स्व न
जानन्त्यत: परमपि न जानन्ति। इति स्थितौ को लौकिक
परीक्षको वा जनो ज्ञानप्रतिभासिनमर्थं प्रत्यक्षं स्वीकुर्वन् स्वयं
ज्ञान प्रत्यक्षं नो स्वीकुर्यात्? ॥ ११ ॥

विशेपार्थ —जो यह कहेगा कि मैं घट का प्रत्यक्ष कर
रहा हूं उसको 'मैं' शब्दके वाच्य ज्ञानका भी प्रत्यक्ष मानना होगा।

स्वप्रतीतिपुष्टेरुदाहरणम्, स्व की प्रतीतिकी पुष्टिका उदाहरण—

प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

अर्थ :—जैसे दीपक घट पट आदि दूसरे पदार्थों को
प्रकाशित करता हुआ अपने आप (दीपक) को भी प्रकाशित

करता है, वैसे ही ज्ञान घट पट आदि को जानता हुआ अपने आप को भी जानता है।

संस्कृतार्थ :—यथा दीपको घटपटादिकं परपदार्थं प्रकाशयन् स्वम् (दीपकम्) अपि प्रकाशयति तथैव ज्ञानमपि घटपटादिपरपदार्थं जानत्सत् स्वमपि जानाति ॥ ११ ॥

विशेषार्थ :—घटपटादिक का प्रकाशक दीपक यदि अपने आपको प्रकाशित नहीं करता तो उसके प्रकाशन के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता होती, परन्तु होती नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि दीपक स्व और पर का प्रकाशक है क्योंकि सर्वत्र दृष्ट पदार्थों से ही अदृष्ट पदार्थों की कल्पना की जाती है।

प्रमाण के प्रामाण्य का निर्णय—

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

अर्थ —उस प्रमाण का प्रामाण्य (सच्चाई, वास्तविकता या पदार्थ का यथावत् जानने का निर्णय) दो प्रकार से होता है। अभ्यास दशा में अन्य पदार्थ की सहायता बिना अपने आप और अनभ्यास दशा मे अन्य कारणों की सहायता से।

संस्कृतार्थ —तस्य प्रमाणस्य प्रामाण्यस्य (सत्यता वास्तविकताया', यथावद्विज्ञताया: वा) निर्णयः प्रकारद्वयेन जायते। अभ्यासदशायामन्यपदार्थसहायता विना स्वतः, अनभ्यासदशायाश्चान्यकारणानां सहायतायाः ॥ १३ ॥

विशेषार्थ :—जहां निरन्तर जाया आया करते हैं, उनके नदी और तालाव आदि स्थानो के परिचय को अभ्यासदशा कहते हैं। इस स्थान में प्रामाण्य का निर्णय स्वतः हो जाता है। और जहां कभी गये आये नही वहां के नदी और तालाव आदि स्थानों के अपरिचय को अनभ्यासदशा कहते हैं। ऐसे स्थानों में कारणों से ही प्रामाण्य का निर्णय होता है।

जैसे कोई व्यक्ति सदा द्रोणगिरि जाया करता है और वहां के रास्तेमें जितने कूप तथा तडाग वगैरह आते हैं सबको भली भांति जानता है। वह जब जब वहां जाता है तब तब पूर्व के परिचित चिह्नों को देखते ही जान लेता है कि यहां जल है और उन्हीं चिह्नों से यह भी जान लेता है; कि मुझे जो ज्ञान हुआ है वह बिलकुल ही ठीक है। इसमें यही प्रमाण है कि वह व्यक्ति ज्ञान होने के बाद ही शीघ्रता से कुआ या तालाब में लोटा डोबने लग जाता है। अगर उसे अपने ज्ञान की सचाई नहीं होती तो कभी ऐसा नहीं कर सकता था। इससे निश्चय होता है कि अभ्यासदशा में स्वत. ही प्रामाण्य का निश्चय होता है।

एक दूसरा व्यक्ति पहली ही बार द्रोणगिरि गया और रास्ते मे जैसे अन्य जलाशयों पर चिह्न होते हैं वैसे चिह्न देखे, तब उसे ज्ञात हुआ कि यहां जल है। परन्तु यह निर्णय नहीं कर सका कि किस खास स्थान पर जल है। अर्थात् ५० गज इस तरफ है या उस तरफ। इसके बाद जब वह देखता है. कि अमुक ओर से स्त्रियां पानी लिये आ रही हैं अथवा शीतल और सुगन्धित वायु आ रही है तब वह जान लेता है कि यह मेरा 'जलज्ञान' सच्चा है। यदि सच्चा नहीं होता; तो ये स्त्रियां जल लेने को नहीं आती। फिर वह ५० गज आगे जा कर कुआ में लोटा डोब कर पानी भर लेता है। उसका पहला ज्ञान यद्यपि सत्य था, परन्तु उस सत्यता का निर्णय दूसरे ही कारणों से हुआ। इससे मालूम होता है कि अनभ्यासदशा में प्रामाण्य का निर्णय परत. होता है।

इति प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

प्रमाणस्य भेदौ, प्रमाण के भेद —

तद् द्वेधा ॥ १ ॥

अर्थ :—प्रमाण के दो भेद हैं। अन्य प्रभेदों का इ
दोनों मे ही अन्तर्भाव हो जाता है।

संस्कृतार्थ :—प्रमाणस्य द्वावेव भेदौ विद्येते। अन्येष
म्प्रभेदानामनयो द्वयोरेवान्तर्भावात्।

प्रमाण के दो भेदों का स्पष्टीकरण —

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥

अर्थ —प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के
भेद हैं। अन्य मतावलम्बियों द्वारा कल्पित प्रमाण की ए
दो, तीन और चार संख्या के निराकरण के हेतु यह स
बनाया गया है।

संस्कृतार्थ :—प्रत्यक्षं परोक्षं चेति प्रमाणस्य द्वौ भे
स्त । प्रमाणस्यान्यमतावलम्बिपरिकल्पितानामेकद्वित्रिच
प्रभृतिभेदानां निराकरणायैवेदं सूत्रं विहितम्।

प्रत्यक्षप्रमाणस्य लक्षणम्, प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण—

विशदं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

अर्थ :—विशद (निर्मल या स्पष्ट) ज्ञान को प्रत्यक्ष
कहते हैं।

संस्कृतार्थ :—यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो निर्मलो विद्यते
तत्प्रत्यक्षं प्रोच्यते। तथा चोक्तं श्रीविद्यानन्दिस्वामिभिः— निर्मल-

प्रतिभासत्वमेव स्पष्टत्वमिति। प्रतिपादितं च श्रीभट्टाकलङ्कदेवै – प्रत्यक्षलक्षणं प्राहु, स्पष्टं साकारमञ्जसा, इति। तथा चानुमानं– प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकमेव, प्रत्यक्षत्वात्, परोक्षवत्। प्रत्यक्ष– मिति धर्मिनिर्देशः, विशदज्ञानात्मकं साध्यं, प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः, परोक्षवदिति दृष्टान्तः। तथाहि–यन्न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षं, यथा परोक्षं, प्रत्यक्षं च विवादापन्नं, तस्माद्विशदज्ञानात्म– कमिति।

विशेषार्थ :—प्रत्यक्ष प्रमाण की निर्मलता अनुभव से जानी जाती है। वह अनुभव इस प्रकार से होता है। किसी व्यक्ति को किसी ने शब्दों के द्वारा अग्नि का ज्ञान करा दिया तब उस व्यक्ति ने सामान्यरूप से अग्नि को जाना।

इसके बाद किसी दूसरे मनुष्य ने उसी व्यक्ति को धूम- मात्र दिखा कर अग्नि का ज्ञान कराया। तब भी उस व्यक्ति ने जिस जगह धूम था उस जगह धूम से अग्नि का निश्चय किया, प्रत्यक्ष नही देखी।

इसके बाद किसी तीसरे मनुष्य ने अग्नि का जलता हुआ अङ्गार लाकर उसके सामने रख दिया, तब उस पुरुष को बिल– कुल निर्मल (स्पष्ट) ज्ञान हो गया कि अग्नि इस प्रकार, ऐसे रंग की और गर्म होती है। इस तीसरी बार हुये ज्ञान में पहिले दो बार हुये ज्ञानों से विशेषता है, उसी को विशदता या निर्मलता कहते हैं। जिस ज्ञान में ऐसी विशदता होती है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

वैशद्यस्य लक्षणम्, वैशद्य का लक्षण—

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्

अर्थ :—दूसरे ज्ञान की सहायता के बिना होने वाले तथा पदार्थ के आकार और वर्ण आदि की विशेषता से होने वाले प्रतिभास को वैशद्य कहते हैं।

संस्कृतार्थ :—एकस्याः प्रतीतेरन्या प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरं, तेनाव्यवधानं, तेन प्रतिभासितत्वं वैशद्यं निगद्यते। तथा च ज्ञानान्तरव्यवधानरहितत्वे सति वर्णसंस्थानादिविशेषग्रहणत्वं वैशद्यम्। विशदत्व, निर्मलत्व, स्पष्टत्वमिति तु वैशद्यस्यैव नामान्तराणि ॥ ४ ॥

विशेषार्थ :—जो ज्ञान अपने स्वरूप का लाभ करने में दूसरे ज्ञानों की सहायता चाहता है वह परोक्ष कहलाता है। जैसे-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। तथा जो ज्ञान दूसरे ज्ञानों की सहायता नहीं चाहते हैं वे प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। उनमें जो खासियत होती है उसी को विशदता, वैशद्य, स्पष्टता या निर्मलता कहते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का कारण और लक्षण—

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥

अर्थ :—इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाले एकदेश विशद (निर्मल) ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं

संस्कृतार्थ :—यज्ज्ञानं देशतो विशदम् (ईषन्निर्मलम्) भवति, तथेन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्येन समुत्पद्यते तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षं प्रोच्यते। तद्यथा-समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं व्यवहारः सव्यवहारः, तत्र भवं प्रत्यक्षं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिति व्युत्पत्त्यर्थः ॥ ५ ॥

विशेषार्थ :—यह प्रत्यक्ष, मतिज्ञान का ही भेद है, जि[स] का श्री उमास्वामी महाराज ने 'मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' इस सूत्र में दिये हुये मतिशब्द से उल्लेख किया है। इसके द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप व्यवहार चलता है, इसलिये इसको सांव्यवहारिक विशेषण दिया है, और थोड़े [illegible] लिये होता है, इसलिये इसको प्रत्यक्ष कहा है, वस्तुत

यह परोक्ष ही है । क्योंकि 'आद्ये परोक्षम्' सूत्र कहता है, कि मतिज्ञान परोक्ष प्रमाण है ।

पदार्थ और प्रकाश को ज्ञान के कारणत्व का निषेध—

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥ ६ ॥

अर्थ :—पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नही हैं। क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं। जो जो ज्ञान का विषय होता है वह वह ज्ञान का कारण नही होता, जैसे अन्धकार । अन्धकार ज्ञान का विषय तो होता है, क्योकि सभी कहते हैं कि यहाँ अन्धकार है, परन्तु ज्ञान का कारण नही है,उल्टा ज्ञान का प्रतिबन्धक है।

संस्कृतार्थ :—अर्थश्च आलोकश्चेति अर्थालोकौ पदार्थप्रकाशावित्यर्थ । कारणं न-ज्ञानजनकौ न स्त. । परिच्छेत्तुं योग्यौ परिच्छेद्यौ; तयोर्भावस्तत्त्व, तस्मात् परिच्छेद्यत्वात्-ज्ञेयत्वादित्यर्थः । अर्थालोकाविति धर्मिनिर्देशः । कारण न भवतीति साध्यम । परिच्छेद्यत्वादिति हेतुः । तमोवदिति दृष्टान्त । तथा च व्याप्ति—यच्च परिच्छेद्यं तन्न ज्ञानं प्रति कारण, यथान्धकारम् । परिच्छेद्यौ चार्थालोकौ, तस्मात् ज्ञानं प्रति कारण न भवतः ॥ ६ ॥

विशेपार्थ —यदि पदार्थ को ज्ञान का कारण मानें तो मौजूद पदार्थों का ही ज्ञान होगा। जो उत्पन्न नहीं हुये हैं, अथवा नष्ट हो गये हैं, उनका ज्ञान नहीं होगा, क्योकि जो है ही नही; वह कारण कैसे हो सकता है ?

और जो आलोक (प्रकाश) को कारण मानते हैं उन्हे रात्रि में कुछ भी ज्ञान नही होगा । यह भी नहीं कह सकेंगे कि यहां अन्धकार है ।

पदार्थ और प्रकाश के ज्ञानकारणता के निपेध में युक्ति—

अगर आलोक ज्ञान का कारण होता तो रात्रि में उल्लू को ज्ञान कभी नहीं होता।

ज्ञान के अर्थजन्यता और अर्थाकारता का खण्डन—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—ज्ञान यद्यपि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता है तो भी पदार्थों को जानता है। जैसे दीपक घट पट आदि से उत्पन्न नहीं होता है, तो भी घट पट आदि को प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान, घटादिक के आकार नहीं होकर भी घटादिक को जानता है। जैसे दीपक घट के आकार को नहीं धारण करके भी घट को प्रकाशित कर देता है।

संस्कृतार्थ:—ननु विज्ञानम् अर्थजन्यं सत् अर्थस्य ग्राहकं भवति, तदुत्पत्तिमन्तरेण विषयं प्रति नियमायोगात्। इति चेन्न—घटाद्यजन्यस्यापि प्रदीपादेः घटादेः प्रकाशकत्ववत्, अर्थाजन्यस्यापि ज्ञानस्यार्थप्रकाशकत्वाभ्युपगमात्। एवमेव तदाकारत्वात् तत्प्रकाशकत्वमित्यप्ययुक्तम्—अतदाकारस्यापि प्रदीपादेः घटादिप्रकाशकत्वावलोकनात् ॥ ८ ॥

अतज्जन्य और अतदाकार होने पर भी
प्रतिनियतार्थ जानने का कारण—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ ९ ॥ प्रत्यक्षमिति शेषः ॥

अर्थ.—अपने आवरणकर्म के क्षयोपशम रूपी योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण 'यह घट है और यह पट है' इस प्रकार पदार्थों की जुदी जुदी व्यवस्था कर देता है। अर्थात् ज्ञान के आवारक कर्म का क्षयोपशम जैसे जैसे होता जाता है वैसे ही पदार्थ, ज्ञान का विषय होने लगता है।

संस्कृतार्थः—स्वानि च तानि आवरणानि स्वावरणानि तेषां क्षयः उदयाभावः, तेषामेव सदवस्थारूप उपशमः, तौ लक्षणं यस्याः योग्यतायाः, तया हेतुभूतया प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति (विषयीकरोति) । प्रत्यक्षमिति शेषः । निःकर्षावस्थामपि कल्पयित्वापि तदुत्पत्ति, तादृप्य, तदध्यवसाय च प्रतिनियतार्थव्यवस्थापनार्थं योग्यतावश्यमभ्युपगन्तव्या ॥ ९ ॥

विशेषार्थ.—ज्ञान को रोकने वाले कर्म बहुत और जुदे हैं जिस वस्तु के ज्ञान को रोकने वाले कर्म का क्षयोपशम हो जा है वह पदार्थ ज्ञान का विषय होने लगता है । अर्थात् ज्ञान ही जानने लगता है , दूसरे को नहीं । इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञा स्वावरणक्षयोपशम से पदार्थों की जुदी जुदी व्यवस्था कर देता ऐसी हालत में ज्ञान पदार्थों से उत्पन्न होता है यह मानने कोई जरूरत नहीं ।

एक यह भी बात है कि यदि पदार्थों से ही ज्ञान की उत्प मानोगे तो जो वस्तु नष्ट हो चुकी है उसका ज्ञान भी होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है । मृत, सड़ी गली गुमी हुई वस्तुओं का ज्ञान होता ही है, इसलिये भी वस्तु ज्ञान की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं ।

कारण होने से ज्ञेयरूपता मानने का निराकरण—

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥१

बौद्ध शंका करता है कि—जब ज्ञान किसी पदार्थ नहीं उत्पन्न होकर भी पदार्थों को जानता है, तो एक ही सब पदार्थों को क्यों नहीं जान लेता ? इसका निषेधक कौन हम (बौद्धों) के यहां तो 'जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न हो वह ज्ञान उसी पदार्थ को जानेगा अन्य को नहीं' इस नियम से चल जाता है । इस शंका के उत्तर में यह नवमां सूत्र कहा गया

अर्थ.—'जो पदार्थ ज्ञानका कारण है वह ही ज्ञानका विषय होता है' यदि ऐसा माना जायगा तो इन्द्रियो के साथ व्यभिचार नाम का दोप आवेगा । क्योंकि इन्द्रियां ज्ञान की कारण तो हैं, परन्तु विषय नहीं हैं । अर्थात् अपने आप को नहीं जानती हैं ।

संस्कृतार्थ—यद्यत्कारण तत्तत्प्रमेयम् इति व्याप्तिस्वीकारे तु इन्द्रियादिना व्यभिचारः संजायते । चक्षुरादीनां ज्ञानम्प्रति कारणत्वेऽपि परिछेद्यत्वाभावात् ॥ १० ॥

विशेषार्थः—बौद्धो का कहना है कि जो जो ज्ञान का कारण होता है वह वह ही ज्ञान का विषय होता है । इस अनुमान में कारण होना हेतु है और और विषय होना साध्य है । इन्द्रियों में हेतु तो रह गया क्योंकि वे ज्ञान में कारण हैं; परन्तु साध्य 'विषय होना' नहीं रहा । क्योंकि ऐसा कोइ व्यक्ति नही है जो अपनी इन्द्रियों से अपनी ही इन्द्रियों को जान लेवे । इसप्रकार इन्द्रियों के साथ व्यभिचार दोप आता है ।

पारमार्थिकप्रत्यक्षलक्षणम्, पारमार्थिकप्रत्यक्ष का लक्षण—

सामग्रीविशेपविश्लेपिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेपतो मुख्यम् ॥ ११ ॥

अर्थ :—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री की पूर्णता (एकता या मिलना) से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके ऐसे, इन्द्रियों की सहायता से रहित और पूर्णतया विशद ज्ञान को मुख्यप्रत्यक्ष कहते हैं ।

संस्कृतार्थ :—सामग्री द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणा, तस्याः विशेषः समग्रतालक्षण, तेन विश्लेपितान्यखिलान्यावरणानि येन तत्तथोक्तम्, इन्द्रियाण्यतिक्रान्तम् अतीन्द्रियम । तथा च यज्ज्ञानं

हेतु रह कर साध्य के न रहने को व्यभिचार दोप कहते हैं।

अथ तृतीयः परिच्छेदः

परोक्षस्य लक्षणं निर्णयो वा, परोक्ष का लक्षण या निर्णय—

परोक्षमितरत् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सर्व प्रमाण परोक्ष हैं। अर्थात् अविशदज्ञान को परोक्ष कहते हैं।

संस्कृतार्थ :—अविशदं परोक्षम्। अथवा यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो निर्मलो न भवति तत्परोक्षं कथ्यते ॥ १ ॥

परोक्षस्य कारणं भेदाश्च, परोक्ष के कारण और भेद—

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।

अर्थः—परोक्ष प्रमाण के प्रत्यक्ष और स्मृति आदिक कारण हैं। तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद हैं। स्मृति आदिक आगे आगे कारण हैं और प्रत्यक्ष भी उनका कारण है।

संस्कृतार्थ—प्रत्यक्षादयः परोक्षस्य कारणानि विद्यन्ते। तथा स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानं, तर्कः, अनुमानम्, आगमश्चेति पञ्च तस्य भेदाः सन्ति ॥ २ ॥

विशेषार्थः—स्मरण, पहले धारणारूप अनुभव (प्रत्यक्ष) हुये पदार्थ का ही होता है इसलिये प्रत्यक्ष स्मरण का निमित्त है। प्रत्यभिज्ञान में स्मरण और प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि जिस पदार्थ को पहले देखा था उसी को फिर देख कर 'यह वही है जिसको मैंने पहले देखा था' ऐसा जो ज्ञान होता है उसी को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसमें स्मरण की और पुनर्दर्शन वाले प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है।

स्मृते दृष्टान्त, स्मृति का दृष्टान्त—

स देवदत्तो यथा ॥ ४ ॥ अर्थः-जैसे वह देवदत्त।

विशेषार्थ.—देवदत्त को पहिले देखा था और धारणा भी रखी थी, इसके बाद फिर कभी मन में याद आया कि 'वह देवदत्त'। इसी को स्मृति कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप वा कारण—

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेद, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ॥ ५ ॥

अर्थः—वर्तमान का प्रत्यक्ष और पूर्वदर्शन का स्मरण है कारण जिसमें ऐसे जोडरूप (मिले हुये) ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रातियौगिक ये चार भेद हैं। १-यह वही है। २-यह उसके समान है। ३-यह उससे विलक्षण है। और ४-यह उसका प्रतियोगी है। उन चारों में क्रमशः इस प्रकार प्रतिभास होता है।

संस्कृतार्थः—दर्शनं च स्मरणं च दर्शनस्मरणे, ते कारणे यस्य तत्तथोक्तम्। तथा च दर्शनस्मरणहेतुकत्वे सति सकलनात्मकज्ञानत्व प्रत्यभिज्ञानत्वम्। तच्चैकत्वं, सादृश्य, वैलक्षण्य, प्रातियौगिकञ्चेति चतुर्विधम्। तदेवेदमित्येकत्वप्रत्यभिज्ञानम्। तत्सदृशमिति सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। तद्विलक्षणमिति वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानम्। तत्प्रतियोगीति प्रातियौगिकप्रत्यभिज्ञानम् ॥ ५ ॥

विशेषार्थ.—वर्तमान में किसी वस्तु को देख कर और इसेही पहले देखा था उसकी याद कर 'यह वही है' ऐसा जानना एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। वर्तमान में किसी वस्तु को देख कर उसके समान वस्तु पहले देखी थी उसकी याद कर 'यह उसके समान है' ऐसा जानना सादृश प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमान में किसी

को देख कर वृक्ष सामान्य की संज्ञा को याद कर जानना कि 'यह वृक्ष है' यह सामान्य प्रत्यभिज्ञान का दृष्टान्त है। प्रमेयरत्नमाला ग्रन्थ से और भी दृष्टान्त समझ लेना चाहिये।

तर्कप्रमाणकारणलक्षणे, तर्कप्रमाण के कारण और लक्षण—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ७ ॥

अर्थ—साध्य और साधन का निश्चय और अनिश्चय है कारण जिसमें ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

संस्कृतार्थ—उपलम्भश्चानुपलम्भश्च उपलम्भानुपलम्भौ निश्चयानिश्चयावित्यर्थः, तौ निमित्तं यस्य तत् उपलम्भानुपलम्भनिमित्तम्। तथा च साध्यसाधनविषयिकनिश्चयानिश्चयहेतुकत्वे सति व्याप्तिज्ञानत्वं तर्कत्वम् ॥ ७ ॥

विशेषार्थः—साध्य और साधन का निश्चय और अनिश्चय क्षयोपशम के अनुकूल होता है।

व्याप्तिज्ञानप्रवृत्तिप्रकार, व्याप्तिज्ञान की प्रवृत्ति का प्रकार—

इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ॥ ८ ॥
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥ ९ ॥

अर्थ—यह साधनरूप वस्तु, इस साध्यरूप वस्तु के होने पर ही होती है और साध्यरूप वस्तु के नहीं होने पर साधनरूप वस्तु नहीं होती। जैसे कि अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के नहीं होने पर धूम नहीं होता।

संस्कृतार्थ—स च तर्कः इदमस्मिन् सत्येव भवति, असति तु न भवति इत्येवम्रूप प्रवर्तते, यथा वह्नौ सत्येव धूम उपलभ्यते वह्न्यभावे च नैवोपलभ्यते ॥ ८ ॥ ९ ॥

सहभावनियमलक्षणम् , सहभावनियम का लक्षण—

सहचारिणो र्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥ १३ ॥

अर्थ —सदा साथ रहने वालों, तथा व्याप्य और व्यापक जो अविनाभाव सम्बन्ध होता है उसे सहभाव नियम नामक विनाभाव सम्बन्ध कहते हैं।

संस्कृतार्थः—सहचारिणो र्व्याप्यव्यापकयोश्चाविनाभावः हभावनियमाविनाभावः प्रोच्यते। यथा रूपरसयो र्व्याप्यव्या-कयोश्च सहभावनियमो ऽविनाभावो विद्यते ॥ १३ ॥

विशेषार्थ —रूप और रस सदा एक साथ रहते हैं। क्षत्व व्यापक है और शिंशपात्व व्याप्य है। जो अधिक देश में रहता है वह व्यापक कहलाता है और जो स्वल्पदेश में रहता है ह व्याप्य कहलाता है।

क्रमभावनियमलक्षणम्, क्रमभावनियम का लक्षण—

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥

अर्थ .–पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में जो अविनाभाव सम्बन्ध होता है उसे क्रमभावनियम अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं।

संस्कृतार्थ —पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्चाविना-भावः क्रमभावनियमाविनाभावः प्रोच्यते। यथा कृतिकोदयशक-टोदययोः धूमानलयोश्च क्रमभावनियमोऽविनाभावो विद्यते ॥१४॥

विशेषार्थ·—कृतिका का उदय अन्तर्मुहूर्त पहले होता है और रोहिणी का उदय पीछे होता है, इसलिये इन दोनों में क्रमभाव माना जाता है। इसीप्रकार अग्नि के बाद में धूम होता है, इसलिये अग्नि और धूम में भी क्रमभाव माना जाता है। इसका दूसरा नाम 'अन्तरभावनियम' भी है।

व्याप्तिज्ञाननिर्णयकारणम् , व्याप्तिज्ञान के निर्णय का कारण-

तर्कात्तन्निर्णयः ॥ १५ ॥

अर्थः—व्याप्ति (अविनाभावसम्बन्ध) का निर्णय त[र्क]
प्रमाण से होता है।

संस्कृतार्थ -स हि अविनाभावस्तर्कप्रमाणादेव निश्चीयते

विशेषार्थः—जहां जहां साधन होता है वहां वहां सा[ध्य]
का रहना और जहां जहां साध्य नहीं होता वहां वहां साध[न]
का नहीं रहना।' इस प्रकार के अविनाभाव का निश्चय त[र्क]
प्रमाण से ही होता है, अन्य प्रमाण से नहीं।

जैनेतर किसी भी मत ने तर्कप्रमाण नहीं माना है। इ[स]
लिये सभी की मानी प्रमाणसंख्या झूठी ठहरती है। क्यों[कि]
प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभा[व]
किसी भी प्रमाण से व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता। इसलि[ये]
तर्कप्रमाण सभी को मानना, पडेगा, तब उनके द्वारा मान[ी]
हुई प्रमाणसंख्या कैसे ठीक रहेगी? प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्या[प्ति]
का निर्णय नहीं होता, यह न्याय के अन्य ग्रन्थों से जान[ना]
चाहिये।

साध्यस्वरूपम् , साध्य का स्वरूप—

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ १६ ॥

अर्थः—जो वादी को इष्ट (अभिप्रेत), प्रत्याक्षादि प्रमाण
से अबाधित और असिद्ध होता है उसे साध्य कहते हैं।

संस्कृतार्थः—यद् वादिनः साधयितुमिष्टं, प्रत्यक्षादिप्रमा-
णैरबाधित, संशयाद्याक्रान्त च विद्यते तत्साध्यं प्रोच्यते ॥ १६॥

विशेषार्थ.—इष्ट, अबाधित और असिद्ध ये तीन साध्य
के विशेषण हैं।

साध्य के लक्षण में असिद्ध विशेषण का फल—

संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थों के साध्यता साबित करने के लिये साध्य के लक्षण में असिद्ध पद दिया गया है।

संस्कृतार्थ—संशयविपर्ययानध्यवसायगोचराणां पदार्थानां साध्यत्वसंकल्पनार्थं साध्यलक्षणेऽसिद्धपदमुपादीयते॥१७॥

विशेषार्थ—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित वस्तु स्वयं सिद्ध होती है, उसके सिद्ध करने का प्रयास मूर्खता और पिष्टपेषण ही है। इसलिये जिसमें संशयादि हों उसे ही सिद्ध करना उचित है, इस बात को बतलाने के लिये साध्य के लक्षण में असिद्ध पद दिया गया है।

साध्य के लक्षण में इष्ट और अबाधित पद का सार्थक्य—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥ १८ ॥

अर्थः—अनिष्ट तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पदार्थों के साध्य पने का निषेध करने के लिये साध्य को इष्ट तथा अबाधित विशेषण दिये गये हैं।

संस्कृतार्थ—अनिष्टस्य प्रत्यक्षादिबाधितस्य च पदार्थस्य साध्यत्वनिरासार्थम् इष्टाबाधितपदयोरुपादानं कृतम् ॥ १८ ॥

विशेषार्थ—जिस वस्तु को वादी सिद्ध नहीं करना चाहता है उसे अनिष्ट कहते हैं। उसे सिद्ध करने का प्रयास अप्राकरणिक और असामयिक होता है। इसलिये ऐसी वस्तु

साध्य नहीं हो सकता। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये साध्य के लक्षण में इष्ट विशेषण दिया गया है।

जिस पदार्थ को हम सिद्ध करना चाहते हैं वह कदाचित् दूसरे प्रमाण से बाधित हो तो प्रमाणान्तर उसे सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये जो किसी दूसरे प्रमाण से बाधित होगा वह भी साध्य नहीं हो सकता। इस बात को स्पष्ट करने के लिये साध्य के लक्षण में अबाधित वचन दिया गया है। वह बाधित प्रत्यक्ष से, अनुमान से, आगम से, लोक से तथा स्ववचन से इत्यादि अनेक प्रकार का होता है।

साध्य का इष्टविशेषण वादी की अपेक्षा होने का स्पष्टीकरण—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥ १९ ॥

अर्थ.—जिस प्रकार असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है, उस प्रकार इष्टविशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा नहीं है, किन्तु वादी की अपेक्षा से है।

संस्कृतार्थ—न हि सर्वं सर्वापेक्षया विशेषणमपि तु किञ्चित्किमप्युद्दिश्य भवतीति। असिद्धवदिति व्यतिरेकमुखेनोदाहरणम्। यथा असिद्धविशेषणं प्रतिवाद्यपेक्षया प्रोक्तं न तथा इष्टविशेषणमिति भाव ॥ १९ ॥

विशेषार्थ—पहले पक्षस्थापन करने वाले को वादी कहते हैं और जो पीछे निराकरणार्थ उत्तर देता है उसे प्रतिवादी कहते हैं।

इष्टविशेषण वादी की अपेक्षा होने का कारण—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥ २० ॥

अर्थ—दूसरों को समझाने की इच्छा वादी के ही होती है प्रतिवादी के नहीं। इसलिये जब साध्य को सिद्ध करना

ादी को ही इष्ट होता है तो इष्ट विशेषण वादी की ही अपेक्षा , प्रतिवादी की अपेक्षा नहीं ।

संस्कृतार्थः—साध्यप्रज्ञापनविषयिणी इच्छा वादिन एव वति, न तु प्रतिवादिनः । अत· साध्ये इष्टविशेषण वादिन पेक्षात· एव विद्यते ॥ २० ॥

साध्यस्य निर्णय , साध्य का निर्णय—

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥ २१ ॥

अर्थः—व्याप्तिप्रयोग के समय 'धर्म' साध्य होता है और ानुमानप्रयोग के समय 'धर्म से युक्त धर्मी' भी साध्य होता है ।

संस्कृतार्थ —व्याप्तिकालापेक्षया धर्म एव साध्यो भवति । रन्तु अनुमानप्रयोगापेक्षया धर्मविशिष्टो धर्मी साध्यत्वेन युज्यते ॥ २१ ॥

धर्मिणो नामान्तरम्, धर्मी का नामान्तर—

पक्ष इति यावत् ॥ २२ ॥

अर्थ —उसी धर्मी को पक्ष भी कहते हैं । पक्ष इति ार्मिण एव नामान्तरम् ॥ २२ ॥

पक्ष की प्रसिद्धता या लक्षण—

प्रसिद्धो धर्मी ॥ २३ ॥

अर्थः—धर्मी (पक्ष) प्रसिद्ध होता है । अवस्तुस्वरूप ा कल्पित नहीं । संस्कृतार्थ —धर्मी (पक्ष) प्रसिद्धो विद्यते, अवस्तुस्वरूपः कल्पितो वा नो विद्यते ॥ २३ ॥

विशेषार्थ·—धर्मी (पक्ष) की प्रसिद्धि तीन तरह से होती ै । प्रमाण से, विकल्प से और प्रमाणविकल्प से ।

विकल्पसिद्ध धर्मी में साध्य का नियम—

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥ २४ ॥

अर्थ—उस धर्मी के विकल्पसिद्ध होने पर सत्ता (अस्तित्व या मौजूदगी) और असत्ता (गैरमौजूदगी) दोनों साध्य होते हैं।

संस्कृतार्थ.—तस्मिन् धर्मिणि विकल्पसिद्धे सति अस्तित्व नास्तित्व चेत्युभे साध्ये भवत ॥ २४ ॥

विशेषार्थः—जिस पक्षका न तो किसी प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध हो और न नास्तित्व सिद्ध हो उस पक्ष को विकल्पसिद्ध कहते हैं। वही न्यायदीपिका में कहा है कि—अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यगोचरत्वं विकल्पसिद्धत्वम्।

विकल्पसिद्ध धर्मी का उदाहरण—

अस्ति सर्वज्ञो, नास्ति खरविषाणम् ॥ २५ ॥

अर्थः—सर्वज्ञ है और गधे के सींग नही हैं। संस्कृतार्थः—सर्वज्ञोऽस्ति, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्। खरविषाण नास्ति, अनुपलब्धे ॥ २५ ॥

विशेषार्थ—सर्वज्ञ है, यहां सर्वज्ञ पक्ष (धर्मी) विकल्प सिद्ध है, उसकी सत्ता साध्य है। और खरविषाण नही है, यहां गधे के सींग विकल्पसिद्ध धर्मी हैं, उनकी असत्ता साध्य है।

प्रमाणसिद्ध धर्मी और विकल्पसिद्ध धर्मी में साध्य—

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता साध्या ॥ २६ ॥

अर्थ—प्रमाणसिद्धधर्मी में और प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी में धर्मसहित धर्मी साध्य होता है।

संस्कृतार्थ—प्रमाणसिद्धे उभयसिद्धे च धर्मिणि साध्यधर्मविशिष्टतैव साध्या भवति ॥ २६ ॥

प्रमाणसिद्ध और विकल्पसिद्ध धर्मी के दृष्टान्त—

अग्निमानयं देशः, परिणामी शब्दः इति यथा ॥२७

अर्थ—जैसे यह प्रदेश अग्निसहित है, यह प्रत्यक्षप्रमाण-सिद्धधर्मी का उदाहरण है। क्योंकि पर्वत आदि प्रदेश प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध रहते हैं और शब्द परिणमनशील हैं, यह प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मी का उदाहरण है। क्योंकि यहा शब्द (पक्ष) वर्तमानकाल वाला तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है और भूत तथा भविष्यत् शब्द विकल्पसिद्ध हैं।

संस्कृतार्थ—'अग्निमानय प्रदेशः धूमवत्वात्' इति प्रमाणसिद्धधर्मिण· उदाहरणम्। यत. पर्वतादिप्रदेशा प्रत्यक्षादिप्रमाणैः सिद्धा· विद्यन्ते। तथा च 'शब्दः परिणामी, कृतकत्वात्' इति प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मिण उदाहरणम। यतः अत्र धर्मी शब्द· उभयसिद्धो विद्यते। स हि वर्तमानकालिकः प्रत्यक्षगम्य., भूतो, भविष्यश्च विकल्पगम्यो वर्तते ॥ २७ ॥

व्याप्तिकाले साध्यनियम व्याप्तिकाल में साध्य का नियम—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥ २८ ॥

अर्थः—व्याप्ति के काल में धर्म ही साध्य होता है, धर्म-विशिष्ट धर्मी नहीं। संस्कृतार्थ.—व्याप्तिकालापेक्षया साध्यं धर्म एव भवतीति भावः ॥ २८ ॥

व्याप्तिकाल में धर्मी को साध्य मानने से हानि—

अन्यथा तदघटनात् ॥ २९ ॥

अर्थः—धर्मी को साध्य करने मे धर्मी और साधन की व्याप्ति नहीं बन सकेगी। संस्कृतार्थ—व्याप्तिकाले ऽपि धर्मिण· साध्यत्वे व्याप्त्यघटनात् ॥ २९ ॥

विशेषार्थः—जहा जहां धूम होता है वहां वहां पर्वत ही अग्नि वाला हो, सो तो ठीक नहीं, किन्तु कहीं पर्वत रहेगा,

कहीं रसोईघर रहेगा और कहीं तेल का मिल रहेगा, इसलिये व्याप्तिकाल में धर्मविशिष्ट धर्मी (पक्ष) साध्य नहीं हो सकता।

पक्ष का प्रयोग करने की आवश्यकता—

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥ ३० ॥

अर्थ—साध्यरूप धर्म के आधार के विषय में उत्पन्न हुये सन्देह को दूर करने के लिये स्वतः सिद्ध भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है।

संस्कृतार्थ — साध्यरूपधर्माधिकरणसमुत्थसंशयनिवारणाय स्वयसिद्धस्यापि पक्षस्य प्रयोग आवश्यक. ॥ ३० ॥

विशेषार्थ.—साध्य; बिना आश्रय के रह नहीं सकता, इसलिये साध्य के बोलने से ही पक्ष सिद्ध हो जावेगा फिर पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता नहीं। इस शका का उत्तर इस सूत्र के द्वारा दिया गया है कि—यद्यपि साध्य के कहने मात्र से ही पक्ष उपस्थित हो जाता है तथापि उस पक्ष में सन्देह दूर करने के लिये स्वय सिद्ध भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है।

जैसे 'अग्निमत्त्व' साध्य की सिद्धि करते समय पर्वत, रसोई घर या तेल का कारखाना आदि जगह में उसके रहने का सन्देह होता है, क्योंकि उक्त तीनों जगह 'अग्निमत्त्व' रह सकता है। अत· 'अग्निमत्त्व' साध्य वास्तव में कहां साधना है इसका निश्चय करने के लिये ही पक्ष का प्रयोग (उच्चारण) होता है।

पक्ष का प्रयोग करने की आवश्यकता का दृष्टान्त—

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।

अर्थः—जैसे साध्ययुक्त धर्मी मे साधनरूप धर्म को समझाने के लिये उपनय का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार साध्य कहा साधना इष्ट है इसका निश्चय करने के लिये ही पक्ष का भी प्रयोग होता है।

संस्कृतार्थ—साध्यव्याप्तसाधनप्रदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थं यथोपनय प्रयुज्यते तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनार्थं पक्षोऽपिप्रयोक्तव्य ।

विशेषार्थः—इस स्थान में अग्नि है क्योंकि धूम है। जहां जहां धूम होता है वहां वहा अवश्य अग्नि होती है। जैसे रसोई घर। इस प्रकार साध्य (अग्नि) के साथ व्याप्ति रखने वाले, साधन (धूम) को दिखाने से ही, उन (साध्य साधन) का आधार (पक्ष) मालूम हो जाता है। क्योंकि वे विना आधार के रह नहीं सकते। ऐसी हालत में आगे जाकर 'जैसा रसोई घर धूम वाला है उसी तरह पर्वत भी धूम वाला है' यह उपनय (पक्ष में दुवारा धूम का प्रदर्शन) इसीलिये प्रयुक्त किया जाता है कि निश्चित पक्षमें साधन मालूम हो जावे। इसीलिये इसी प्रकार स्वत. सिद्ध होने पर भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है।

पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता की पुष्टि—

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥३२॥

अर्थ—ऐसा कौन वादी प्रतिवादी है जो तीन प्रकार के हेतु को कह कर उसका समर्थन करता हुआ उस हेतु को पक्ष नहीं मानेगा।

संस्कृतार्थ—को वा वादी प्रतिवादी त्रिविध हेतु स्वीकृत्य तत्समर्थन च कुर्वाण. पक्षवचन न स्वीकरोति ? अपि तु स्वीकरोत्येव ॥ ३२ ॥

विशेषार्थः—दोषो का परिहार कर अपने साध्य और साधन को समर्थरूप प्ररूपण करने को समर्थ वचन 'समर्थन'

कहलाता है। यहां हेतु से तीन प्रकार स्वभावहेतु, कार्यहेतु और अनुपलब्धिहेतु लेना। अथवा पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति लेना। जिस प्रकार बिना कहे हेतु का समर्थन नहीं हो सकता, उसी प्रकार पक्ष के प्रयोग बिना साध्य के आधार का भी निश्चय नहीं हो सकता, इसलिये पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक है।

अनुमानाङ्गनिर्णय . अनुमान के अंगों का निर्णय—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमान के अङ्ग (अवयव या कारण) हैं, उदाहरण नहीं। संस्कृतार्थः—पक्षः, हेतुश्चेति द्वितयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणादिकम् ॥ ३३ ॥

विशेषार्थ—सांख्य-पक्ष, हेतु और दृष्टान्त, मीमांसक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय तथा नैयायिक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस प्रकार क्रम से अनुमान के ३, ४ वा ५ अवयव मानते हैं। इस सूत्र द्वारा उनकी मान्यता का खण्डन किया गया है।

उदाहरण को अनुमान का अंग न होने में कारण—

न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात्।

अर्थ—उदाहरण, साध्य के ज्ञान में कारण नहीं है, क्योंकि साध्य के ज्ञान में निर्दोष (साध्य का अविनाभावी) हेतु ही कारण होता है।

संस्कृतार्थः—साध्यप्रज्ञापनार्थम् उदाहरणप्रयोगः समीचीन इति चेन्न साध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य हेतोरेव साध्यज्ञानजनकत्वसामर्थ्यात् ॥ ३४ ॥

विशेषार्थ—किसी का कहना है कि उदाहरण के बिना साध्य का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये उदाहरण का प्रयोग

तीसरे की सचाई के लिये चौथे की आवश्यकता होगी, जिससे गगनतल में फैलने वाली बड़ी भारी अनवस्था चली जावेगी अर्थात कहीं पर अन्त नहीं आवेगा।

व्याप्ति के स्मरण के लिये भी उदाहरण की अनावश्यकता—

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं, तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः।

अर्थ—व्याप्ति का स्मरण कराने के लिये भी उदाहरण का प्रयोग करना कार्यकारी नहीं है, क्योंकि अविनाभाव स्वरूप हेतु के प्रयोग से ही व्याप्ति का स्मरण हो जाता है।

संस्कृतार्थ—ननु व्याप्तिस्मरणार्थम् उदाहरणप्रयोगस्य समीचीनत्वमस्त्येवेति चेन्न साध्याविनाभावत्वापन्नस्य हेतोः प्रयोगादेव व्याप्तिस्मरणसंसिद्धेः॥ ३७॥

विशेषार्थः—पूर्वानुभूत पदार्थ का ही स्मरण होता है। अतः यदि व्याप्ति पूर्वानुभूत रहेगी तो हेतुप्रयोग से ही उसका स्मरण हो जावेगा। और जिसने कभी व्याप्ति का अनुभव किया ही नहीं उसके लिये तो सौ बार भी दृष्टान्त कहा जाय परन्तु वह कभी भी व्याप्ति का स्मारक नहीं होगा। इसलिये व्याप्ति के स्मरणार्थ भी उदाहरण का प्रयोग आवश्यक नहीं।

उपनय और निगमन के प्रयोग विना उदाहरणप्रयोग से हानि—

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति।

अर्थ—उपनय और निगमन के विना यदि केवल उदाहरण का प्रयोग किया जावेगा तो वह साध्य धर्म वाले धर्मी (पक्ष) में साध्य और साधन के सिद्ध करने में सन्देह करा देगा।

संस्कृतार्थ—केवलं प्रयुज्यमानं तदुदाहरणं साध्यविशिष्टे धर्मिणि साध्यसाधने सन्दिग्धे करोति। दृष्टान्तधर्मिणि साध्य-

अर्थः—समर्थन ही वास्तविक हेतु का स्वरूप है और ही अनुमान का अङ्ग है। क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसी का योग होता है।

संस्कृतार्थ—किञ्च दृष्टान्तादिकमभिधायापि समर्थनम-
य करणीयमसमर्थितस्याहेतुत्वादिति। तथा च समर्थनमेव
ास्तविकहेतुस्वरूपमनुमानावयवो वा भवतु, साध्यसिद्धौ तस्यै-
ोपयोगान्नोदाहरणादिकस्येति ॥ ४१ ॥

विशेषार्थः—दोषों का अभाव दिखा कर हेतु के पुष्ट करने को समर्थन कहते हैं।

बालकों को समझाने के लिये उदाहरण, उपनय और निगमन की आवश्यकता—

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥ ४२ ॥

अर्थ.—अल्पज्ञानियों को समझाने के लिये उदाहरण उपनय और निगमन की स्वीकारता शास्त्र में ही है, वादकाल में नहीं। क्योंकि वाद करने का अधिकार विद्वानों को ही होता है और वे पहले से ही व्युत्पन्न रहते हैं, इसलिये उनको उदाहरणादि का प्रयोग उपयोगी नहीं होता।

संस्कृतार्थ.—मन्दमतीनां शिष्याणां सम्बोधनार्थमुदाहरणादित्रयप्रयोगाभ्युपगमे ऽपि तत्त्रयप्रयोगो वीतरागकथायामेव ज्ञातव्यो न तु विजगीषुकथायाम्। तत्र तस्यानुपयोगात्। न हि वादकाले शिष्या व्युत्पाद्याः, व्युत्पन्नानामेव तत्राधिकारात् ॥४२॥

दृष्टान्तस्य भेदौ, दृष्टान्त के भेद—

दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥ ४३ ॥

अर्थ—दृष्टान्त के दो भेद हैं। अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेकदृष्टान्त। संस्कृतार्थ.—दृष्टौ अन्तौ साध्यसाधन-

संस्कृतार्थ —उपनीयते पुनरुच्यते इत्युपनय:, पक्षे हेतो-
रुपसंहार उपनय इत्यर्थ. ॥ ४६ ॥

विशेषार्थ —इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि धूम है। फिर
ई एक दृष्टान्त देकर कहा जाता है कि 'उसी तरह इसमें धूम है'
यथा यह धूम वाला है' यहां पहिले धूम है कहा था फिर दुबारा
हा कि 'इसमें धूम है' इसलिए कहा जाता है कि पक्ष में
ाधन (हेतु) के दुहराने को उपनय कहते हैं।

निगमनस्य स्वरूपम्, निगमन का स्वरूप—

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥ ४७ ॥

अर्थ:—प्रतिज्ञा के दुहराने को निगमन कहते हैं। जैसे
कि-'धूम वाला' होने से यह अग्नि वाला है।

संस्कृतार्थ— पक्षस्य साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं
निगमन प्रोच्यते ॥ ४७ ॥

अनुमानस्य भेदौ, अनुमान के भेद—

तदनुमानं द्वेधा ॥ ४८ ॥

अर्थ:—अनुमान के दो भेद हैं। संस्कृतार्थः—अनुमानं
द्विविधम् ॥ ४८ ॥

अनुमानभेदस्पष्टीकरणम्, अनुमान के भेदों का स्पष्टीकरण—

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥ ४६ ॥

अर्थ:—स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान के दो
भेद हैं। संस्कृतार्थ —स्वार्थानुमानं, परार्थानुमानं चेत्यनुमानस्य
द्वौ भेदौ स्तः ॥ ४६ ॥

स्वार्थानुमानस्य लक्षणम्, स्वार्थानुमान का लक्षण—

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥ ५० ॥

अर्थ.—परार्थानुमान के कारण होने से, परार्थानुमान के तिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं। अथवा उन वचनों । स्वार्थानुमान कारण है, इसलिये उन्हें परार्थानुमान कहते हैं।

संस्कृतार्थ.—स्वार्थानुमानस्य कार्यत्वात् परार्थानुमानस्य रणत्वाच्च परार्थानुमानप्रतिपादकवचनमपि उपचारत. परानुमान प्रोच्यते ॥ ५२ ॥

विशेषार्थ—उपचार किसी प्रयोजन को अथवा किसी मित्तको लेकर किया जाता है। यहां वचन, प्रथम तो परार्थानुमान निमित्त हैं, दूसरे अनुमान के पांच अवयवों के व्यवहार करने में जनभूत हैं। क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा में प्रतिज्ञा आदि व अवयवों का व्यवहार नहीं किया जा सकता, इसलिए चार से वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं।

वचनों को गौणरूप से अनुमान इसलिए कहा है कि वे तन हैं और अचेतन से अज्ञान की निवृत्ति होती नहीं; लिये जब इन से फल नहीं होता तब इन्हें साक्षात् प्रमाण भी कह सकते। केवल उपचार (गौणता) से प्रमाण कहा गया क्योंकि वे परार्थानुमान के कारण और स्वार्थानुमान के कार्य हैं।

हेतो र्भेदः. हेतु के भेद—

स हेतु र्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥ ५३ ॥

अर्थ:—उपलब्धिरूपहेतु और अनुपलब्धिरूपहेतु के द से हेतु के दो भेद हैं।

संस्कृतार्थ -हेतु र्द्विविधः उपलब्धिरूपो ऽनुपलब्धिरूपश्च।

उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप हेतु के विषय—

उपलब्धि र्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥ ५४ ॥

अर्थ—उपलब्धिरूपहेतु और अनुपलब्धिरूपहेतु दोनों विधि और प्रतिषेध के साधक हैं।

अर्थ.—रस से सामग्री का और कारणरूप सामग्री से का अनुमान मानने वाले बौद्धों ने कहीं पर कारणरूप हेतु मान माना ही है; जहा पर कि कारण की शक्ति की मणि या मंत्र वगैरह से रुकावट नहीं होगी तथा अन्य किसी कारण की कमी नहीं होगी। इसलिये कारणहेतु का निषेध नहीं किया जा सकता।

संस्कृतार्थः—सौगतः प्राह-विधिसाधन द्विविधमेव, स्वभावकार्यभेदात्। कारणस्य तु कार्याविनाभावाभावाद् अलिङ्गत्वम्। नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति वचनादिति। तदप्यसङ्गतम्-आस्वाद्यमानाद्धि रसात् तज्जनिका सामग्री अनुमीयते, ततो रूपानुमानं जायते, प्राक्तनो रूपक्षणः सजातीय रूपक्षणान्तरलक्षणं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयरसलक्षणं कार्यं कुरुते इति रूपानुमानमिच्छद्भिः सौगतैः किञ्चित्कारणं हेतुत्वेनाभ्युपगतमेव, रूपक्षणस्य सजातीयरूपक्षणान्तराव्यभिचारात्। एतेनेदमुक्तं यत् यस्मिन्कारणे सामर्थ्यप्रतिबन्धः कारणान्तरविकलता च नास्ति, तद्विशिष्टकारणं कार्योत्पत्तिनियामकत्वादवश्यमेव कार्यानुमापकं भवतीति भावः॥ ५६॥

विशेषार्थः—जहां कारण की शक्ति मणि या मंत्र वगैरह से रोक दी जावेगी अथवा किसी सहायक कारण की कमी होगी, वहां कारण कार्य का गमक (जनाने वाला) नहीं होगा, किन्तु दूसरी जगह तो अवश्य होगा। इसलिये बौद्ध जो यह कहते थे कि 'कार्यहेतु और स्वभावहेतु ये दोनों ही विधि के साधक हैं, कारणहेतु नहीं' उनका कहना ठीक नहीं।

पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं को अन्यहेतुओं से भिन्नता—

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः॥ ५७॥

अर्थ—साध्य और साधन का तादात्म्यसम्बन्ध होने पर स्वभावहेतु में अन्तर्भाव होता है और तदुत्पत्ति सम्बन्ध होने पर कार्यहेतु या कारणहेतु में अन्तर्भाव होता है। काल का व्यवधा (कालका-अन्तर) होने पर ये दोनों सम्बन्ध नहीं होते। [illegible] इन पूर्वचर तथा उत्तरचर हेतुओं में अन्तर्मुहूर्त काल का व्य[illegible] धान रहता है। इसलिये इन दोनों हेतुओं का साध्य के [illegible] तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं बनता; इससे इनका [illegible] भावादि तीनों में से किसी भी हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो[illegible] अतएव ये जुदे ही हेतु हैं।

संस्कृतार्थः—साध्यसाधनयोस्तादात्म्यसम्बन्धे हेतोः [illegible] भावहेतावन्तर्भावो भवेत। तदुत्पत्तिसम्बन्धे च कार्यहेतौ [illegible] णहेतौ वान्तर्भावो विभाव्यते। न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तद्[illegible] सम्बन्धौ स्त, कालव्यवधाने सति तदुभयसम्बन्धानुपल[illegible] पूर्वोत्तरचारिणोश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाण कालव्यवधानं सुनिश्चितम्। अतश्च तयो र्न स्वभावादिहेतुष्वन्तर्भाव। इति तौ तेभ्यः पृथ-गेव हेतू प्रत्येतव्यौ ॥ ५७ ॥

काल का व्यवधान होने पर भी कार्यकारणभाव
मानने का खण्डन—

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रतिहेतुत्वम्

अर्थः—आगामी मरण अरिष्ट (अपशकुनों) का कारण नहीं है। तथा बीता हुआ सायकाल का ज्ञान प्रात काल के ज्ञान का कारण नहीं है।

संस्कृतार्थः—ननु कालव्यवधाने ऽपि कार्यकारणभावो दृश्यते एव। यथा जाग्रत्प्रबुद्धदशाभाविप्रबोधयो र्मरणारिष्टयो र्वा कार्यकारणभाव इति चेन्न भविष्यत्कालीनमरणस्यापशकुनं प्रति, भूतकालीनजाग्रद्बोधस्य प्रबुद्धदशाभाविबोधं प्रति कारण-त्वाभावात् ॥ ५८ ॥

विशेषार्थ.—अपशकुन तो होता है पर मरण हो भी
ता है और नहीं भी हो सकता है। इसी प्रकार शयन के बाद
ने पर जाग्रत अवस्था की बात याद आती भी है और
भी आती है। इसलिये बौद्धों का काल का व्यवधान होने
भी कार्यकारणभाव मान कर पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं
स्वभावादि हेतु में अन्तर्भाव मानना उचित नहीं है।

कालव्यवधान होने पर भी कार्यकारणभाव मानने के
खण्डन में हेतु—

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—क्योंकि कार्यकारणभाव का होना कारण के
पार की अपेक्षा रखता है।

संस्कृतार्थ.—यस्मात्कारणात् कार्यकारणभावः कारण-
व्यापाराश्रितो विद्यते, ततो मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टबोधौ
तेहेतुत्वम् अतिव्यवहितपदार्थानां कारणव्यापारसापेक्षाभावात्।

विशेषार्थ —उसके (कारण के) सद्भाव में उसका (कार्य
) होना कारण के व्यापार के आधीन है। परन्तु जब
रण है ही नहीं; तब उसका अरिष्ट के होने में व्यापार ही
या होगा, जिससे कि कार्यकारणभाव मान लिया जावे। इसी
कार जाग्रद्बोध जब नष्ट ही हो गया; तब उसका भी उद्बोध के
ति क्या व्यापार होगा? क्योंकि कारण बिना कार्य नहीं
होता। जैसे कुम्भकार होय तो कलश बन सकता है, नहीं होय
तो कलश नहीं बनता। इस कथन से यह निर्णय हुआ कि
पूर्वचर और उत्तरचर स्वतंत्र ही हेतु मानना चाहिये।

सहचरहेतु का स्वभावहेतु और कार्यहेतु में पृथक्पन—

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च।

अर्थ—सहचारी पदार्थ परस्पर की भिन्नता से रहते अर्थात् उनकी प्रतीति परस्पर की भिन्नता से होती है, इसलिए सहचारी हेतु का स्वभावहेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। और सहचारी पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं इस कारण उनमें कार्यकारणभाव भी नहीं बन सकता, जिससे कि कार्यहेतु या कारणहेतु मे अन्तर्भाव हो सके।

संस्कृतार्थ—सहचारिणोरपि साध्यसाधनयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात् सहचराख्यहेतो र्न स्वभावहेतावन्तर्भावः। सहोत्पादाच्च न कार्यहेतौ कारणहेतौ वान्तर्भावः। तस्मात्सौगतैः सहचराख्योऽपि हेतुः स्वतन्त्र एवाभ्युपगन्तव्यः ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार युगपत् उत्पन्न हुये गाय के सींगों में कार्यकारणभाव नहीं होता, उसी प्रकार सहचरों में भी नही होता, इसलिये सहचर हेतु भी एक भिन्न ही हेतु है।

अविरुद्धव्याप्योपलब्धि का उदाहरण—

परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो, यथा घटः, कृतकश्चायं तस्मात्परिणामीति, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो; यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी ॥ ६१ ॥

अर्थः—शब्द 'परिणामी' होता है क्योंकि वह किया हुआ है। जो जो किया हुआ होता है वह वह परिणामी होता है, जैसे घड़ा। घड़े की तरह शब्द भी किया हुआ है; अतः वह भी परिणामी होता है। जो पदार्थ परिणामी नहीं होता वह पदार्थ किया भी नहीं जाता, जैसे वन्ध्यास्त्री का पुत्र। उसी तरह यह शब्द कृतक होता है, इसी कारण परिणामी होता है। यहां परिणामित्व साध्य से अविरुद्धव्याप्य कृतकत्व की उपलब्धि है।

संस्कृतार्थ—परिणामी शब्द. इति प्रतिज्ञा । कृतकत्वा-द्धेतु । यथा घटः इत्यन्वयदृष्टान्तः । यथा वन्ध्यास्तन्वयः व्यतिरेकदृष्टान्त. । कृतकश्चायमित्युपनयः । तस्मात्परि-णामीति निगमनम् । एवमत्र पूर्वो बालव्युत्पत्त्यर्थम् अनुमानस्य पञ्चाङ्गानि अङ्गीकृतानि तान्युपदर्शितानि । अत्र कृतक-त्वमिति हेतु', शब्दस्य परिणामित्व साधयति, परिणामित्वेन च वर्तते, अतो ऽविरुद्धव्याप्योपलब्धिनामत्वं लभते ॥६१॥

विशेषार्थः—यहां परिणामित्व साध्य से अविरुद्धव्याप्य कृतकत्व की उपलब्धि है ।

अविरुद्धकार्योपलब्धि (कार्यहेतु) का उदाहरण—

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धि व्याहारादेः ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस प्राणी में बुद्धि है, क्योंकि बुद्धि के कार्य वचन आदि पाये जाते हैं । यहां बुद्धि के अविरुद्ध कार्य वचनादिक की उपलब्धि है; इसलिये यह अविरुद्धकार्योपलब्धि हेतु है ।

संस्कृतार्थः—अस्त्यत्र देहिनि बुद्धि. व्याहारादेरित्यत्र बुद्-ध्यविरुद्धकार्यस्य वचनादेरुपलब्धि दृश्यते, अतो ऽयम् अविरुद्ध-कार्योपलब्धिहेतु कथ्यते ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ—वचन की चतुरता और व्यापार आदिक बुद्धि बिना नहीं हो सकते । इस प्रकार बुद्धि के कार्य वचना-दिक बुद्धिनामक साध्य को साधते हैं, इसलिये ये 'कार्यहेतु' हुये ।

अविरुद्धकारणोपलब्धि (कारणहेतु) का उदाहरण—

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—यहां छाया है, क्योंकि यहां छत्र मौजूद है । किसी जगह छत्र देखा था और जाना था कि छत्र के नीचे छाया है, जहां छत्र होता है वहां छाया भी होती है । इस प्रकार

यहां भरणि के उदय की भूतता के अविरुद्ध उत्तरचर कृतिका के उदय की उपलब्धि है। इसलिये यह हेतु 'अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतु' कहलाता है।

संस्कृतार्थ.—मुहूर्तात्प्राक् भरण्युदयो व्यतीत., कृतिकोदयात्। अत्र कृतिकोदयनामकोत्तरचरहेतुः भरण्युदयभूततारूपसाध्यं साधयति। अर्थादत्र भरण्युदयभूतताया अविरुद्धोत्तरचरस्य कृतिकोदयस्योपलब्धि विद्यते। अतोऽयं हेतुः 'अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतु' निगद्यते ॥ ६५ ॥

अविरुद्धसहचरोपलब्धि (सहचरहेतु) का उदाहरण—

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥ ६६ ॥

अर्थ.—इस बिजौरे में रूप है, क्योंकि रस पाया जाता है। यहां रसनामक सहचरहेतु रूपनामक साध्य को साधता है। अर्थात् यहां रूप का अविरुद्ध सहचर रस मौजूद है। इसलिये यह हेतु 'अविरुद्धसहचरोपलब्धिहेतु' कहलाता है।

संस्कृतार्थः—अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं, रसात्। अत्र रसनामकसहचरहेतु. रूपनामकसाध्यं साधयति। अर्थादत्र रूपविरुद्धसहचरस्य रसस्योपलब्धि विद्यते। अतोऽयं हेतुः 'अविरुद्धसहचरोपलब्धिहेतु' प्रोच्यते ॥ ६६ ॥

विरुद्धोपलब्धिभेदाः, विरुद्धोपलब्धि के भेद—

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥ ६७ ॥

संस्कृतार्थ —प्रतिषेधसाधिकाया विरुद्धोपलब्धेः षड् भेदा विद्यन्ते। विरुद्धव्याप्योपलब्धि., विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धकारणोपलब्धि., विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिः, विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि., विरुद्धसहचरोपलब्धिश्चेति ॥ ६७ ॥

अर्थ:—एक मुहूर्त पहले भरणि का उदय नहीं हुआ क्योंकि भरणि के उदय से विरुद्ध पुनर्वसु के उत्तरचर (पीछे उदय होने वाले) पुष्यनक्षत्र का उदय हो रहा है। अर्थात पुष्य नक्षत्र का उदय पुनर्वसु का उत्तरचर है, इसलिये उसी के उदय को जनावेगा, कि हो गया, और भरणि के हो चुके उदय का निषेध करेगा। इसलिये यहां यह हेतु विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि हुआ।

संस्कृतार्थः—नोदगाद्भरणि: मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात्। अत्र भरण्युदयाद् विरुद्धस्य पुनर्वसूत्तरचरस्य पुष्यस्योदयो विद्यते। अर्थात् पुष्यनक्षत्रोदयः पुनर्वसुनक्षत्रोत्तरचरो वर्तते ऽ तस्तस्यैवोदय सूचयिष्यति यत्पुनर्वसूदयो भूतस्तथा च भूतभरण्युदयं निषेत्स्यति, अतोऽत्रायं पुष्योदयत्वहेतु. विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि जातः

विरुद्धसहचरोपलब्धेरुदाहरणम्, विरुद्धसहचरहेतु का उदाहरण

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावो ऽ र्वाग्भागदर्शनात्।

अर्थ—इस दीवाल में उस तरफ के भाग का अभाव नहीं है, क्योकि उस तरफ के भाग के अभाव से विरुद्ध उस तरफ के भाग के सद्भाव का साथी, इस तरफ का भाग दीख रहा है। अर्थात उस तरफ के भाग के सद्भाव का साथी मौजूद है, इसलिये वह उसके सद्भाव को ही कहेगा, कि इस तरफ का भाग भी मौजूद है। इस कारण यह हेतु विरुद्धसहचरोपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थ.—नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावो ऽ र्वाग्भागदर्शनात्। अत्र परभागाभावाद् विरुद्ध. परभागसद्भावसहचरो ऽ र्वाग्भागो दृश्यते। अर्थात्परभागसद्भावसहचरो विद्यते ऽतः स परभागसद्भावमेव साधयिष्यति। अतो ऽ यम् अर्वाग्भागदर्शनत्वहेतुः विरुद्धसहचरोपलब्धिहेतु जातः॥ ७१॥

अविरुद्धानुपलब्धिभेदा., अविरुद्धानुपलब्धि के भेद—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा, स्वभावव्यापक-

[illegible]पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ॥ ७४ ॥

संस्कृतार्थः-अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधसाधिका जायते। [illegible] भेदा विद्यन्ते। अविरुद्धस्वभावानुपलब्धिः, अविरु[illegible]नुपलब्धिः, अविरुद्धकार्यानुपलब्धिः, अविरुद्धकारणा[illegible], अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धिः, अविरुद्धोत्तरचरानुप[illegible], अविरुद्धसहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ७४ ॥

अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण—

नास्त्यत्र भूतले घटो ऽनुपलब्धेः ॥ ७५ ॥

अर्थः—इस भूतल में घट नहीं है, क्योंकि वह दिखता [illegible] है। यहां घट के प्राप्त होने रूप स्वभाव का भूतल में अभाव [illegible] इसलिये वह घट के अभाव को सिद्ध करता है, अर्थात् प्रति[illegible] करने योग्य घट के अविरुद्धस्वभाव का अनुपलम्भ [illegible]भाव) है। इसलिये यह हेतु अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि हुआ।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र भूतले घटो ऽनुपलब्धेः। अत्र [illegible]प्राप्तिरूपस्वभावस्य भूतले ऽभावो विद्यते ऽतः स घटाभावं [illegible]धयति। अर्थात् प्रतिषेधयोग्यघटस्याविरुद्धस्वभावस्यानुप[illegible]म्भो वर्तते। अतो ऽयमनुपलब्धिरूपहेतुः 'अविरुद्धस्वभावा[illegible]पलब्धिर्हेतुः' जातः ॥ ७५ ॥

अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि का उदाहरण—

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥ ७६ ॥

अर्थः—यहां शीशोन नहीं है, क्योंकि उसके व्यापक वृक्ष का अभाव है। व्यापक वृक्ष के बिना व्याप्य शिंशपा हो ही नहीं सकता। अर्थात् यहां व्यापक वृक्ष की अनुपलब्धि, व्याप्य शिंशपा (शीशोन) के प्रतिषेध को सिद्ध करती है। इसलिये यह हेतु अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थ —नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे । व्यापक· वृक्षं विना व्याप्यस्वरूपा शिंशपा भवितुं नार्हति । अर्थादत्र व्यापकवृक्षानुपलब्धिः, व्याप्यशिंशपाप्रतिषेध साधयति । अतो ऽ यं वृक्षानुपलब्धिहेतु· 'अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिहेतुः' सम्भूतः ।

अविरुद्धकार्यानुपलब्धि का उदाहरण—

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्यो ऽ ग्नि र्धूमानुपलब्धेः ।

अर्थ –यहां बिना सामर्थ्य रुकी अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम नहीं पाया जाता है। यहां सामर्थ्य वाली अग्नि के अविरुद्ध कार्य धूम का अभाव है, इसलिये मालूम होता है कि यहां अग्नि नहीं है, अगर है भी तो भस्म वगैरह से ढकी हुई है। इस प्रकार वहां यह धूमानुपलब्धित्वहेतु अविरुद्धंकार्यानुपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थ.—नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्यो ऽ ग्नि र्धूमानुपलब्धेः । अत्र सामर्थ्यवतो ऽ ग्नेरविरुद्धकार्यस्य धूमास्याभावो विद्यते, अतश्च प्रतीयते यदत्राग्नि र्नास्ति, अस्ति चेद् भस्मादि· भिराच्छन्नो विद्यते । एवमत्राय धूमानुपलब्धित्वहेतुः 'अविरुद्ध-कार्यानुपलब्धिहेतु ' विज्ञेय ॥ ७७ ॥

अविरुद्धकारणानुपलब्धि का उदाहरण—

नास्त्यत्र धूमो ऽ नग्नेः ॥ ७८ ॥

अर्थ.—यहां धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं है। यहां धूम के अविरुद्ध कारण अग्नि का अभाव धूम के अभाव को सिद्ध करता है, इसलिये यह हेतु अविरुद्धकारणानुपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थः—नास्त्यत्र धूमो ऽ नग्ने । अत्र धूमास्याविरुद्धकारणस्याग्नेरभावो धूमाभाव साधयति । अतो ऽ यम् अनग्नित्वहेतुः 'अविरुद्धकारणानुपलब्धिहेतु.' जातः ॥ ७८ ॥

अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि का उदाहरण—

न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ।

अर्थः—एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी कृतिका का भी उदय नहीं हुआ है। यहां शकटोदय के अविरुद्ध पूर्वचर कृतिका के उदय का अभाव एक मुहूर्त के बाद रोहिणी के उदय के अभाव को सिद्ध करता है, इसलिये यह हेतु अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थः—न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं; कृत्तिकोदया-[नुपल]ब्धेः। अत्र शकटोदयादविरुद्धस्य पूर्वचरस्य कृत्तिकोदय-[स्याभा]वो मुहूर्तान्ते शकटोदयाभावं साधयति। अतोऽयं [कृत्ति]कोदयानुपलब्धिरूपहेतुः अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धिहेतु र्जातः।

अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि का उदाहरण—

नोदगाद् भरणिः मुहूर्तात्प्राक् तत एव ॥ ८० ॥

अर्थ—एक मुहूर्त पहले भरणि का उदय नहीं हो चुका, क्योंकि अभी कृतिका का भी उदय नहीं हुआ है। यहां भरणि के उदय के अविरुद्ध उत्तरचर कृतिका के उदय का अभाव, भरणि के उदय की भूतता के अभाव को सिद्ध करता है, इसलिये यह हेतु अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थ—नोदगाद् भरणिः मुहूर्तात्प्राक् तत एव। अत्र भरण्युदयादविरुद्धोत्तरचरस्य कृतिकोदयस्याभावो भरण्युदयभूतता ऽभावं साधयति। अतो ऽयं हेतुः 'अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतुः' जातः ॥ ८० ॥

अविरुद्धसहचरानुपलब्धि का उदाहरण—

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥ ८१ ॥

अर्थ—इस तराजू में ऊंचापन नहीं है, क्योंकि नीचेपन का अभाव है। यहां ऊंचेपन का अविरुद्ध सहचर नीचेपन का

अभाव कोपल के अभाव को सिद्ध करता है, इससे यह हेतु अविरुद्धसहचरानुपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थ.—नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः। अत्र उन्नामाद् अविरुद्धसहचरस्य नामस्याभाव उन्नामस्याभावं साधयति। अतोऽयं नामानुपलब्धिरूपहेतुः अविरुद्धसहचरानुपलब्धिहेतुर्जातः॥ ८१॥

विरुद्धानुपलब्धेर्भेदाः, विरुद्धानुपलब्धि के भेद—

विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा, विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात्॥ ८२॥

अर्थ—विधिसाधिका विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद हैं। विरुद्धकार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि और विरुद्धस्वभावानुपलब्धि।

विशेषार्थ.—साध्य से विरुद्ध पदार्थ के कार्य का अभाव, साध्य से विरुद्ध पदार्थ के कारण का अभाव और साध्य से विरुद्ध पदार्थ के स्वभाव का अभाव। ये क्रम से उन तीनों विरुद्धकार्यानुपलब्धि वगैरह के लक्षण हैं।

विरुद्धकार्यानुपलब्धि का उदाहरण—

यथास्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः॥ ८३॥

अर्थ:—इस प्राणी में कोई एक रोग है, क्योंकि नीरोग चेष्टा नहीं पाई जाती है। यहां व्याधिविशेष के सद्भावरूप साध्य से विरोधी व्याधिविशेष के अभाव के कार्य नीरोग चेष्टा की अनुपलब्धि है। इससे यह हेतु विरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थः—अस्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः। अत्र व्याधिविशेषसद्भावसाध्याद् विरो-

ने व्याधिविशेषाभावस्य कार्यस्य नीरोगचेष्टाया. अनुपलब्धि
ते। अतो ऽ यं हेतु विरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतु र्जातः ॥ ८३ ॥

विरुद्धकारणानुपलब्धि का उदाहरण—

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस प्राणी में दुःख है, क्योंकि इष्टसंयोग का
भाव है। यहां दुःख के विरोधी सुख के कारण इष्टसंयोग
अभाव दुःख के सद्भाव को सिद्ध करता है, इसलिये
यह हेतु विरुद्धकारणानुपलब्धिहेतु हुआ।

संस्कृतार्थ—अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात्।
दुःखविरोधिनः सुखकारणस्येष्टसंयोगस्याभावो दुःखसद्-
भावमेव साधयति। अतो ऽ यम् इष्टसंयोगाभावरूपहेतु विरु-
द्धकारणानुपलब्धिहेतुरवगन्तव्यः ॥ ८४ ॥

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण—

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ॥ ८५ ॥

अर्थ—पदार्थ अनेक धर्म वाले हैं, क्योंकि इनमें नित्य
आदि एकान्त स्वरूप का अभाव है। यहां अनेकान्तात्मकता
से विरुद्ध एकान्तात्मकता का अभाव वस्तु की अनेकान्तात्मकता
को ही सिद्ध करता है। इसमे यहां यह हेतु विरुद्धस्वभावानुप-
लब्धि हेतु हुआ।

संस्कृतार्थ—अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः।
अत्रानेकान्तात्मकताया विरुद्ध एकान्तात्मकताया अभावो वस्तुनो
ऽनेकान्तात्मकतामेव साधयति, अतो ऽ यं हेतु विरुद्धस्व-
भावानुपलब्धिहेतुरवगन्तव्यः ॥ ८५ ॥

हेतुभेदों का पूर्वोक्त हेतुओं में अन्तर्भाव—

परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥ ८६ ॥

अर्थ —गुरुपरम्परा से और भी जो साधन (हेतु) स
हो सकते हों उनका पूर्वोक्त साधनों मे ही अन्तर्भाव करना चाहि

संस्कृतार्थः—गुरुपरम्परया सम्भवन्ति भिन्नानि साधन
पूर्वोक्तसाधनेष्वेवान्तर्भावनीयानि ॥ ८६ ॥

पूर्वानुक्त हेतु का प्रथमोदाहरण—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ॥ ८७ ॥

अर्थ.—इस चके पर शिवक हो गया है, क्योंकि स्थास मौजूद है। यह स्थासरूपहेतु परम्परा से शिवक का कार्य है, साक्षात् नहीं, साक्षात् कार्य तो छत्रक है। इस प्रकार यहां यह हेतु 'कार्यकार्य' हेतु हुआ।

संस्कृतार्थः—अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्। अत्र स्थासरूपहेतु· परम्परया शिवककार्यं विद्यते, साक्षान्नो, साक्षात्कार्यं तु छत्रक विद्यते। एवमत्रायं स्थासादिति हेतु कार्यकार्यहेतु र्विद्यते ॥ ८७ ॥

विशेषार्थ.—शिवक, छत्रक, स्थास, कोश और कुशूल आदि कुम्हार के चाक की माटी के क्रमशः नाम हैं।

कार्यकार्यहेतु का अविरुद्धकार्योपलब्धिहेतु मे अन्तर्भाव—

कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥ ८८ ॥

अर्थ —कार्य के कार्य रूप हेतु का (परम्पराकार्यहेतु का) अविरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भाव होता है।

संस्कृतार्थ.—कार्यकार्य (परम्पराकार्य) रूपहेतुरविद्धकार्योपलब्धिहेतावन्तर्भवति ॥ ८८ ॥

कार्यकार्यहेतु की अविरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भाव की पुष्टि—

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात्। कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ॥ ८९ ॥

अर्थ—इस गुफा में मृग की क्रीडा नहीं है, क्योंकि सिंह
रहा है। यहां कारणविरुद्ध कार्य है, अर्थात् मृगक्रीडा के
मृग के विरोधी सिंह का शब्दरूप कार्य पाया जाता है,
इस हेतु का विरुद्धकार्योपलब्धिहेतु में अन्तर्भाव करना
। और जैसे इस कारणविरुद्धकार्योपलब्धि का विरुद्धका-
में अन्तर्भाव होता है, उसी प्रकार कार्यकार्य हेतु का
विरुद्धकार्योपलब्धि हेतु में अन्तर्भाव होता है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्द-
नात्। अत्र कारणविरुद्धकार्यं विद्यते। अर्थान्मृगक्रीडाकारण-
स्य विरोधिनः सिंहस्य शब्दरूपं कार्यमुपलभ्यते, अतोऽत्रायं
हेतु विरुद्धकार्योपलब्धिहेतु विज्ञेयः। तथा च यथा कारणविरु-
द्धकार्योपलब्धि विरुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भवति तथैव कार्यकार्य-
हेतुरपि अविरुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भवतीति भावः ॥ ८९ ॥

व्युत्पन्न जनों की अपेक्षा अनुमान के अवयवों के
प्रयोग का नियम—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।

अर्थः—व्युत्पन्न पुरुषों के लिये तथोपपत्ति या अन्यथा-
नुपपत्ति नियम से ही प्रयोग करना चाहिये।

संस्कृतार्थ—व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्या, अन्यथानुप-
पत्त्यैव वा नियमः ॥ ९० ॥

विशेषार्थः—साध्य के सद्भाव में साधन का होना
तथोपपत्ति और साध्य के अभाव में साधन का न होना अन्यथा-
नुपपत्ति कहलाती है।

व्युत्पन्नप्रयोग की उदाहरण द्वारा पुष्टि—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्य-
थानुपपत्तेर्वा ॥ ९१ ॥